विलम्ब से छपें तो उन्हें हमें क्षमा करना चाहिए। जिन लेखों को हम स्वीकार कर चुके हैं, उन्हें हम अवश्य छापेंगे। परन्तु बात यह है कि पाठकों की रुचि पर ध्यान करके हमें कभी कभी लेखों को रोक रखना पड़ता है। हां, यदि सरस्वती का कलेवर और बढ़ा दिया जाय तो सम्भव है कि और भी अधिक लेख इसमें छप सकें। परन्तु अभी तक इसके वर्त्तमान रूप ही में प्रकाशित होने में प्रकाशक को बहुत व्यय और हानि स्वीकार करनी पड़ती है। यदि हिन्दी के पाठक सरस्वती पर यथोचित कृपादृष्टि रक्खें तो इसमें अब तक जो अन्यान्य त्रुटियां हैं वे भी दूर हो जांय। अतएव आशा है कि हमारी अवस्था पर विचार कर सज्जन जन हमपर क्रुद्ध न होंगे।

---

## श्रीमान महाराजा सियाजी राव गायकवाड़

"Business has become a passion to me, and my work for the people, a real pleasure".—*Sayaji Rao Gaekwar.*

हमारे भारतवर्ष में आज कल कुछ ऐसा संयोग हो रहा है कि, जहां लक्ष्मी का वास है वहां से प्रायः सरस्वती देवी मुंह मोड़े हुई हैं। और जहां सरस्वती देवी विराजती हैं, वहां लक्ष्मी भूल कर भी पदार्पण नहीं करतीं। क्या इसी होतव्यता को जान कर हमारे प्राचीन पूज्य महर्षिगणों ने लक्ष्मी का वाहन उलूक बताया है? भारतवर्ष की वर्त्तमान दशा देख कर तो यही कहना पड़ता है, कि वास्तव में अवस्था कुछ ऐसी ही हो रही है। परन्तु इस साधारण तथा स्पष्ट नियम के प्रतिकूल दृष्टान्त कहीं कहीं दृष्टिगोचर हो जाया करते हैं। इन्हें हम केवल सृष्टि की चञ्चलता मात्र कह कर अपने हृदय का सम्बोधन कर लेते हैं। आज जिन महानुभाव का चित्र और चरित्र हम अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया चाहते हैं, उनमें धन सम्पदा के अतिरिक्त विद्या की पूर्णता भी विद्यमान है। महाराज सियाजी राव जैसे विद्यासम्पन्न कुछ राजे महाराजे भारतवर्ष में यदि और देखने में आते, तो आज दिन भारतमाता के मस्तक से कलङ्क का वह टीका मिट जाता जो आधुनिक पाश्चिमात्य सभ्यता ने लगा रक्खा है। वास्तव में महाराज सियाजी राव यदि एक छोटे से ग्राम से लाकर राजसिंहासन पर न बैठाए जाते, और यदि वे जन्म से ही राजगद्दी के उत्तराधिकारी होते, तो सम्भव है कि आज हम उन्हें इतना बुद्धिमान और विद्यासम्पन्न न पाते जितना की अब देख रहे हैं।

महाराष्ट्र देशीय राज्यों में गायकवाड़ का ही वंश ऐसा है जिसने आज तांई बृटिश राज्य के प्रतिकूल कोई कार्य्य नहीं किया और न कभी उससे युद्ध ठानने का विचार भी किया। मुगलराज्य के क्षय होने और मरहट्ठों के बृहत् साम्राज्य के बनने के समय इस राज्य की उत्पत्ति हुई। खाण्डेराव धबरे नाम का एक महा वीर पुरुष सतारा के राजा साहुजी* का सेनापति था। ऐसा कहते हैं कि उस समय धबरे ने गुजरात पर कर बांधने के लिये आक्रमण किया। इस आक्रमण में उसे दामाजी नाम के एक पटेल से बड़ी सहायता मिली। सेनापति धबरे ने पटेल की शूरता देख के उसे शमशेर बहादुर की पदवी दी और अपना सहायक बना लिया। अर्थात् दामाजी राव पटेल सहायक सेनापति नियत हुए। भारतवर्ष के इतिहास में बड़ोदा राज्य के आदि पुरुषों में सबसे पहिले इन्हीं दामाजी राव पटेल का नाम मिलता है। ये केरूजी राव पटेल के पुत्र थे। स० १७३१ ई० में इनकी मृत्यु हुई, और इनके भतीजे पिलाजी राव इनके पद पर नियत किए गए। वीरता में ये अपने चचा से किसी प्रकार कम न थे। इन्होंने अपने बाहुबल से गुजरात के मुख्य मुख्य नगरों को, जिसमें बड़ोदा भी सम्मिलित था, जीत कर अपने आधीन कर लिया था। इन्हें शमशेर बहादुर की उपाधि तो थी ही, अब 'सेना खास खेल' की उपाधि और

---

* यही साहुजी महाराज शिवाजी के पौत्र थे।

मिली, और ये दो उपाधियां उसी समय से आज पर्य्यन्त गायकवाड़ राज्यवंश में पैतृक चली आती हैं। स० १७३२ ई० में मुगलों के दूत अभयसिंह ने छल से पिलाजी राव को मार डाला। इसलिये उनके पुत्र दामाजी राव उनके उत्तराधिकारी हुए। इन्होंने निज पितृवध का बदला लिया, और मुगलों को गुजरात प्रदेश से निकाल भगाया, और सं० १७३२ ई० में बड़ोदा को फिर से जीत लिया, जो कि उस समय से अब निरन्तर गायकवाड़ों की राजधानी चली आती है। पानीपत के युद्ध के समय एक बड़ी सेना दामाजी राव के आधीन थी। इन्होंने उसी सेना से काठियावाड़ के राजपूत राजाओं पर आक्रमण किया और उनसे कौड़ी लेने लगे, जो इस समय तक गायकवाड़ राज्य को अङ्गरेज़ी सरकार द्वारा मिलती आती है। दामाजी राव को किसी छल से अपने दुर्ग में बन्द करके महाराज साहु जी ने बलात् एक सन्धिपत्र लिखवा लिया, जिसके अनुसार दामाजी राव को अपना राज्य सतारा राज्य से पृथक करना पड़ा और आधा राज्य छोड़ना पड़ा। ऐसा कहा जाता है कि इसी समय से इस छल के कारण बड़ोदा राजवंशोत्पन्न सतारा राज-घराने-वालों को बांएँ हाथ से सलाम करते हैं। इन्हीं दामाजी के पिता पिलाजी राव की सातवीं पीढ़ी में महाराज खाण्डेराव हुए। इन्हें कोई नर-सन्तति न थी, इस कारण इनके पीछे इनके भाई मल्हारराव को गद्दी मिली। यह मल्हारराव कई वर्ष लों राजकीय बन्दी रह चुके थे, क्योंकि वे अपने बड़े भाई महाराज खाण्डेराव के विरुद्ध विरोध फैलाते और उन्हें मारकर स्वयं राजा बना चाहते थे।

गद्दी मिलने पर प्रजा इनसे बड़ी दुखित रहती थी। यह असन्तुष्टता प्रति दिन बढ़ती गई, यहां तक कि वृटिश सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। सरकार ने इनके दुःशासन और कुरीतियों के अन्वेषण के लिये एक कमीशन बैठाया। कमीशन ने इनके विरुद्ध रिपोर्ट दी। इसपर बम्बई गवर्नमेण्ट ने मल्हारराव को तीन मास की अवधि दी कि उसके भीतर वे अपने राज्य को सुधार लें। अभी तीन मास व्यतीत होने भी न पाए थे कि वृटिश रेज़ीडेण्ट कर्नल आर. फ़ेरी को विष देने का अपराध इनपर लगाया गया। सरकार ने पुनः एक हाई कमीशन इसकी जांच के लिये बैठाया। जांच में यह निरपराधी निश्चित हुए। परन्तु फिर भी सरकार ने इन पर दया न कर के इन्हें गद्दी से उतार २२ अप्रैल, सन् १८७५ ईसवी, को मन्द्राज भेज दिया। इनके पदच्युत होने पर कहीं कहीं यह काना फूसी होने लगी कि बस, अब यह राज्य भी 'लालधारी' में सम्मिलित हुआ चाहता है। इसी बीच में महाराज खाण्डेराव की विधवा महारानी यमुना बाई ने, जो बड़ी बुद्धिमाती और दूरदर्शी स्त्रीरत्न थीं, गोपालराव को दत्तक लेने की सरकार से आज्ञा मांगी। सरकार ने आज्ञा प्रदान की और इस प्रकार गोपाल राव खानदेश के एक छोटे से ग्राम से एक कृषक के घर से लाकर भारतवर्ष की एक सर्वश्रेष्ठ और धनाढ्य राजगद्दी पर बैठाए गए।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस वंश के आदि मूल पिलाजी राव हुए हैं। इनके पुत्र दामाजी राव और प्रताप राव थे। दामाजी राव तो बड़ोदा नरेश हुए। इनके भाई प्रतापराव साधारण रीति से जीवन व्यतीत करने लगे और अपनी हीन आर्थिक अवस्था के कारण खानदेश के किसी ग्राम में जा बसे। प्रतापराव से पांचवी पीढ़ी में काशीराव हुए। इन्हींके पुत्र गोपालराव हैं जो इस प्रबन्ध के नायक और वर्तमान श्रीमान बड़ोदानरेश सियाजी राव गायकवाड़ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

गोपालराव यद्यपि बड़ोदा के राजवंश से थे, परन्तु संसार-चक्र में पड़कर अब केवल एक सामान्य कृषक रह गए थे। सरकार से आज्ञा पाने पर महारानी यमुना बाई ने इन्हें ग्राम से बुलवाया और तारीख़ २७ मई, सन् १८७५ ईसवी, को दत्तक लेने का उत्सव बड़ी धूम धाम से किया।

उसी दिन सर रिचर्ड मीड महाशय ने राजकुमार को राजतिलक दिया और उनका नाम सियाजी राव गायकवाड़ रक्खा। इस समय भारतवर्ष के गवर्नर जेनरल श्रीमान लार्ड नार्थब्रूक महोदय थे। ये जैसे प्रजावत्सल थे, वैसेही उदारचरित थे। इनकी उत्कट इच्छा हुई कि राजकुमार सियाजी राव को पाश्चिमात्य रीति पर उच्च शिक्षा दी जाय। इस दुस्तर कार्य्य के लिये मिस्टर एफ. ए. एच. इलियट महाशय नियत किए गए। इन्होंने अपना कर्तव्य इस उत्तम रीति से पूरा किया की गवर्नमेण्ट ने इन्हें सी. आई. ई. की उपाधि प्रदान करके इनका आदर किया और महाराज ने भी अपने राज्य में एक विश्वसनीय और उच्च पद देकर इनका सम्मान आवश्यक समझा। ऐसा कहते हैं कि विद्याध्ययन में राजकुमार की बड़ी रुचि रहती थी। जब इङ्गलैण्ड में यह बात निश्चय पा गई थी कि विलियम के पश्चात् विक्टोरिया को राजगद्दी दी जायगी, तो उनके मामा ने विचारा था कि जहां तक और जितने दिनों तक सम्भव हो, विक्टोरिया पर यह बात प्रगट न होने पावे कि वह एक समय राजसिंहासन पर विराजमान होंगी; क्योंकि उनका मत था कि इससे उनमें गर्व उत्पन्न हो जाने, और तब उनकी उपयुक्त शिक्षा असम्भव हो जाने की विशेष सम्भावना है। परन्तु हमारे १३ वर्ष के राजकुमार ने इस बात को निरर्थक सिद्ध कर दिया। उनपर ज्ञात था कि मैं बड़ोदा का महाराज होने वाला हूं। किन्तु इससे उनके कोमल हृदय-पटल पर तनिक भी गर्व न उत्पन्न हुआ। और वे विद्योपार्जन में वैसेही दत्तचित्त रहे जैसा कि सम्भव था। ठीक इसी समय श्रीमान प्रिन्स आफ वेल्स (वर्तमान महाराज एडवर्ड दी सेवेन्थ) का भारतवर्ष में आगमन हुआ और राजकुमार अपने मन्त्री और रेज़िडेण्ट सहित उनको भेंट के लिये बम्बई गए। प्रिन्स महोदय राजकुमार से वार्तालाप करके बड़े प्रसन्न हुए। डाक्टर रसेल ने प्रिन्स के भ्रमणवृतान्त में राजकुमार के रहन सहन बोल चाल की बड़ी प्रशंसा की है। तारीख़ १ जनवरी, सन् १८७७ ईसवी, को दिल्ली के दर्बार में राजकुमार को "फरज़न्द ख़ास दौलत इङ्गलिशिया" की उपाधि मिलि। सन् १८८० ईसवी में तनजोर की लक्ष्मीबाई से राजकुमार का बड़ी धूम धाम से बिवाह हुआ। अब राजकुमार के राजगद्दी का समय निकट पहुंचता जाता था, इसलिये उन्हें राजनैतिक शिक्षा देने की आवश्यकता हुई; और उसके लिये यह प्रबन्ध किया गया कि उनके मन्त्री राजा सर टी० माधव राव, तथा भिन्न भिन्न शासनविभाग के विशेषज्ञ, अपने अपने विषय में राजकुमार के सम्मुख वक्तृता देवें। यह युक्ति ऐसी कार्य्यकारिणी, सुगम और युक्तियुक्त निकली कि राजकुमार शीघ्र राजकर, आय व्यय, सुप्रबन्ध, नियम, पुलिस, बन्दीगृह और सेनासम्बन्धी जैसे कठिन विषयों के सिद्धान्तों से पूर्ण विज्ञ हो गए।

उनके मन्त्री राजा माधव राव ने राज्य शासन के एक वार्षिक विवरण में यों लिखा है कि "राजकुमार इन वक्तृताओं पर पूर्ण ध्यान देते थे, जिसका फल यह हुआ कि वे शीघ्र राज्य के प्रबन्ध और नियमों के साधन में पूर्ण विशारद हो गए। वह अपने कर्तव्यों को भली भांति जानते हैं, जिससे ऐसी आशा होती है कि वह अपने प्रजापालन में सदा सचेत और सयत्न रहेंगे"

सन् १८८१ ईसवी को २८ वीं दिसम्बर को राजकुमार को राजगद्दी मिली। बम्बई के गवर्नर श्रीमान सर जेम्स फ़रगुसन साहब ने वाईसराय का पत्र ( खरीता ) भरे दर्बार में पढ़ सुनाया। उसके उत्तर में महाराज ने भी चुने चुने शब्दों में बड़ी उत्तमता से अङ्गरेज़ी सरकार को धन्यवाद देने के पश्चात् यह विश्वास दिलाया कि, वे सदा अपनी प्रजा को सुख देने में प्रवृत्त रहेंगे और सरकार अङ्गरेज़ी की ओर मित्रभाव स्थिर रक्खेंगे।

इसके अनन्तर बहुत काल ताईं महाराज अपने राज काज के आनन्द में प्रवृत्त रहे। परन्तु काल की कुटिलता इनके इस आनन्द को न देख सकी और उसने एक विघ्न खड़ा कर दिया; अर्थात् सन् १८८५ ईसवी के अप्रैल मास में महारानी लक्ष्मीबाई का स्वर्गवास हुआ। इस असामयिक मृत्यु से महाराज को अत्यन्त शोक हुआ। महाराज को इस महल से दो कन्याएं और एक पुत्र हुए। परन्तु कन्याओं का देहान्त माता के जीवन काल में ही हो गया था। इस महल से अब एक पुत्र राजकुमार फ़तेहसिंह विद्यमान हैं जो राज्य के उत्तराधिकारी हैं। इसी वर्ष के अन्तिम भाग में महाराज ने मध्यप्रदेश के देव घराने की एक कन्या से विवाह किया, जिससे उन्हें एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुए हैं।

महाराजा साहब की बाल्यावस्था में यद्यपि उनके मन्त्री राजा माधवराव ने राज्य के संशोधन और सुप्रबन्ध में कुछ त्रुटि न की थी, परन्तु राजगद्दी पर बैठकर महाराज साहब ने राज्य में बहुत सी नवीन बातें प्रचलित की हैं, जिनका संक्षेप में कुछ वर्णन हम अपने पाठकों को सुनाते हैं।

महाराजा साहब ने सबसे पहिले अपने राज्य का वैज्ञानिक रीति पर माप कराया, जिससे इनके राज्य के भूमिकर की बड़ी वृद्धि हुई। परन्तु उनका अभिप्राय यह था कि राज्य के शुद्ध नाप के हो जाने से एक तो उन प्रजाओं का बड़ा उपकार होगा जिनकी भूमि वा जोत पर अधिक अथवा नियम-विरुद्ध कर नियमित चला आता है। दूसरे भूमि कर का प्रबन्ध उत्तम रीति पर होने लग जायगा। इस कार्य्य का प्रबन्ध मि. इलियट महाशय के आधीन हुआ और वे बड़ोदा राज्य के सर्वे और सेटिलमेन्ट कमिशनर नियत हुए। दूसरा संशोधन भूमिकर सम्बन्धी नियमों में था और विशेषतः उन नियमों में, जिनका सम्बन्ध राज्य और कृषक प्रजा से कुछ अधिक था। इन नियमों के न होने से कार्य्य साधन में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। इसी प्रकार न्यायसम्बन्धी नियमों का संशोधन हुआ और वे अङ्गरेज़ी ढङ्ग पर यथाक्रम एकत्रित किए। सरदार घरानेवालों को ऋण से मुक्त करने और उनकी अवस्था सुधार देने के हेतु महाराजा साहब ने कुछ नियम बना रक्खे हैं।

महाराजा साहब को इस बात का पूर्ण बोध है कि भारत की अवस्था का उद्धार उस समय तक सम्भव नहीं जब तक यहां के कृषिकारों की दशा अच्छी न होगी। इसलिये उन्होंने अपने राज्य में कृषकों की सुदशा बनाए रखने के हेतु पूरा प्रबन्ध कर रक्खा है। उनके नियम बड़े कोमल और भूमि-कर बहुत ही न्यून हैं। कर के उगाहने में किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया जाता। पूर्व गायकवाड़ों के समय से यह प्रथा चली आती थी कि कोई कृषक यदि चाहे तो अपने पूरे जोत वा खेत को छोड़ वा बदल सकता है। उसके अंश के छोड़ने वा बदलने का अधिकार कृषिकार को प्राप्त न था; क्योंकि इसमें यह भय था कि कृषक उन जोतों को रखलेगा जिनपर देन कम है और जिनपर अधिक है उन्हें छोड़ देगा। महाराजा साहब को ये नियम कुछ क्रूर जान पड़े और उन्होंने इसमें संशोधन करके अब कृषकों को यह अधिकार दे दिया है कि वे अपने इच्छानुसार जो जोत चाहें रख सकते हैं अथवा छोड़ सकते है। ऊसर भूमि बहुत ही कम लगान पर जोतने बोने के लिये दी जाती है और इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाता है कि कृषिकार अपनी भूमि की हर एक प्रकार उन्नति करता रहे। उन्होंने अपनी कृषक प्रजा के कल्याण के हेतु कृषिबैङ्क खोल रक्खे हैं। महाराजा साहिब ने हरएक प्रकार के स्थानिक करों (चूंगी इत्यादि) को क्षमा कर दिया है, क्योंकि वे जानते हैं कि इस प्रणाली से आय की सम्भावना तो बहुत ही कम है, पर सदा एक न एक उत्पात खड़े रहने का वह उत्तम द्वार है।

श्रीमान् ने अपने राज्य की सेना और पुलिस का प्रबन्ध भी बड़ी उत्तम रीति पर कर रक्खा है, और वे पुलिसशासन पर सदा ध्यान रखते हैं।

यद्यपि श्रीमान् का ध्यान सामाजिक संशोधन की ओर अधिक प्रवृत्त रहता है, पर वह सांसारिक उन्नति मात्र का तारकमन्त्र शिक्षा के मानते हैं। सदा अपनी दृष्टि के सम्मुख इसी उद्देश्य का रखना श्रेष्ठतर और श्रेयस्कर समझते हैं। इन्होंने अपने राज्य में प्रारम्भिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा का पूरा प्रबन्ध कर रक्खा है। यह इन्हींके उद्योग का फल है कि बड़ोदा में एक कालिज देखने में आता है, जहां बी. ए. श्रेणी तक की शिक्षा दी जाती है। जब से यह सिंहासनासीन हुए हैं, वर्नाक्यूलर स्कूलों की पूरी वृद्धि हुई है। उन्होंने आज्ञा दे दी है कि राज्य में ३० नवीन वर्नाक्युलर स्कूल प्रति वर्ष स्थापित किए जांय। अब कुछ काल से उनका ध्यान शिल्पशिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ है और वह शीघ्र ही एक ऐसा शिल्पविद्यालय खोलने के हैं जिसमें युरोपियन रीति पर शिल्पविद्या और दस्तकारी की शिक्षा दी जायगी।

जिस भांति श्रीमान् बालकों को हरएक प्रकार की उच्चतम शिक्षा देने में किसी प्रकार पराङ्मुख नहीं होते, वैसे ही बालिकाओं को भी उपयुक्त शिक्षा देने में बद्धपरिकर रहते हैं। उनका मत है कि बिना इसके मनुष्य पूर्ण सुख को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। मैं इस विषय में अपनी लेखनी से कुछ न लिख कर उनके श्रीमुख से निकले शब्दों को उद्धृत कर पाठकों को यह दिखाना चाहता हूं कि, स्त्री शिक्षा-विषय पर उनके आन्तरिक भाव कैसे परिपक्व और स्पष्ट हैं। अपने एक लेख में वे लिखते हैं कि "एक शिक्षित स्त्री घरमें उस स्त्री की अपेक्षा अधिकतर सुख और शान्ति फैला सकती है जिसे कभी कुछ शिक्षा नहीं दी गई, और जो अपना मुख्य धर्म इसीमें समझती है कि घर में अपने आधीनों पर अत्याचार करे और सदा किसी न किसी प्रकार की कलह और छल कपट में निमग्न रहे, हिन्दू धनाढ्य घरानेवालियों की प्रायः यही दशा है"। फिर अपनी एक वक्तृता में वे कहते हैं—"मेरा तो विश्वास है कि भारत में इस समय एक बड़ा परिवर्तन हो रहा है। शिक्षित भारतवासी पाश्चिमात्य सभ्यता और रहन सहन को ग्रहण करते जाते हैं। ऐसी अवस्था में वे उचित बातों को ग्रहण करते हों अथवा अनुचित, परन्तु दोनों का ही शीघ्र एक भारी प्रभाव पड़ेगा। इस समय भारतवासी मात्र को चाहिए कि उन्नति के इस मार्ग में आ सम्मिलित हों। जैसे वे बालकों की शिक्षा में प्रवृत्त रहते हैं, वैसे ही बालिकाओं की शिक्षा भी उन्हें अपना एक कर्त्तव्य समझ लेना चाहिए। हमारी ललनाएं शिक्षा में हमसे बहुत पीछे छूट गई हैं। यदि इन्हें उपयुक्त शिक्षा दी जाती, यदि इनकी बुद्धि प्रारम्भ से ही तीक्ष्ण की जाती और उनके चित्त में शिल्प और काव्यरस की रुचि उत्पन्न करादी जाती, तो साथ ही हमारे पुरुषों की बुद्धि की भी वृद्धि होती। हमलोग समाज की बहुतसी कुरीतियों को अति घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उनके संशोधन को अत्यावश्यक समझते हैं। किन्तु हमारी कन्याएं और स्त्रियें निरक्षर होने के कारण स्वयं प्रतिबन्ध खड़ी हो कर एक ऐसी बाधा खड़ी कर देती हैं जिससे वह कार्य्य केवल असम्भव हो जाता है। हम पाश्चिमात्य शिक्षा से उन्हें लाभ उठाने से रोकते हैं, पर यह नहीं विचारते कि इसमें लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है। इसलिये उनको यथोचित विद्योपार्जन करते देख हमें हर्षित और हुलसित होना चाहिए। एतद्देशीय भाषा में उनके उपयोगी विद्याविषय नहीं मिल सकते हैं; उनका प्राप्त होना केवल अङ्गरेज़ी भाषा में सम्भव है। इसलिये उच्चश्रेणी की स्त्रियों को चाहिए कि वे अङ्गरेज़ी भाषा की शिक्षा लें। क्या हमें यह बात समाज में कभी रहने देनी चाहिए कि बाहर तो वे (मनुष्य) बड़े उद्योगशील देख पड़ें, परन्तु घर में स्त्रियों के सम्मुख होते ही सब सुध बिसार दें? क्योंकि

हमारी पबिलक लाइफ़ का प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है इसलिये हमारे गार्हस्थ्यचरित्र भी अवश्य बदलने चाहिएं"। महाराजा साहब के इन सार-गर्भित वाक्यों से पाठक समझ गए होंगे कि वे स्त्रियों को शिक्षा देने और उनकी अधोपतित अवस्था के सुधारने के कैसे पक्षपाती हैं। उन्होंने महाराणी साहिबा को अङ्गरेज़ी शिक्षा दिलवाई है। ऐसा कहा जाता है कि महाराणी साहिबा अङ्गरेज़ी में बड़ी प्रवीणा समझी जाती हैं। वह अब तांई एक लेडी से अङ्गरेज़ी साहित्य का मनन करती हैं; प्रायः अङ्गरेज़ी के समाचार पत्र देखती हैं। महाराजा साहब की भाईं संशोधन के विषय में इनके भाव भी वैसे ही उदार हैं। स्त्रीसमाज की बहुत सी कुरीतियों का बड़ा विरोध करती हैं और अपनी कन्या को उच्च शिक्षा देने की चिन्ता में हैं।

महाराजा साहब को अपने राज्य में उत्तमोत्तम इमारतों के बनवाने का बड़ा शौक़ है। अभी कुछ काल हुए ३० लाख की लागत पर एक राजभवन उन्होंने तैयार कराया है। इसके अतिरिक्त स्कूल, कालेज, अस्पतालादि की इमारतें भी देखने योग्य बनी हैं। रूई कातने की कल और कपड़ा बुनने की मिल भी महाराजा साहब ने बड़ोदा में चलाई है। मि. जहांगीर महाराजा साहब के विषय में लिखते हैं कि "महाराज सियाजी राव नाटे कद, सुडौल बदन और बलिष्ट प्रकृति के हैं। इनकी चेष्टा प्रभाव-शालिनी है, जिससे आन्तरिक उदारता, दृढ़ता और उच्चभाव का लक्ष्य होता है। वे अन्तःकरण से सुशील और नम्र हैं, अपने किसी अधीन वा सेवक को कटु वचन नहीं कहते। उत्तर प्रत्युत्तर में बड़े चतुर हैं। इनकी बातें युक्तियुक्त होती हैं, किसी नवीन वार्ता के जानने के लिये बड़े उत्सुक और सुनने में बड़े धीरजवान हैं। बिरले अवसर पर अपनी लेखनी उठाते हैं और राजकार्य को बड़ी तत्परता से देखते भालते हैं"। राज्य की कोई प्रणाली या कोई विभाग ऐसा नहीं जिससे वे पूर्ण विज्ञता न रखते हों। सप्ताह में एक बेर सब उच्च कर्मचारी उनके सम्मुख उपस्थित होते हैं और श्रीमान बड़ी प्रवीणता से उनसे तर्क वितर्क करते हैं। उनकी ऐसी कार्य्यतत्परता देख राज्य के यावत् कर्मचारीगण अपने अपने कार्य्य में प्रवृत्त और लवलीन रहते हैं। राज्य के हर एक कार्य्य और विशेषतः अपनी कृषक प्रजा की अवस्था को निज नेत्रों से देखने और उनका सम्बोधन करने के अभिप्राय से वे वर्ष में प्रायः भ्रमण किया करते हैं। इन भ्रमणों में प्रायः अपने को छिपाते हैं। परन्तु वह स्वयं एक ठौर लिखते हैं कि "इसमें मुझे बड़ी कठिनाई पड़ती है और प्रायः मैं अपने को गुप्त नहीं रख सकता। इन भ्रमणों में प्रजा के विषय में यथासाध्य अधिक जानने के लिये मैं ग्राम के चौधरियों से स्वयं वार्तालाप करने लगता हूँ, और कभी कभी तो खेत में जो हुआ उसीसे कुछ प्रश्न कर बैठता हूँ"।

जो ऐसा श्रमी और उद्योगशील हो, जिसके चित्त को चञ्चल करने के लिये राज्य के एक हज़ार एक विघ्न घात लगाए खड़े हों, उससे कब ऐसी आशा की जा सकती है कि वह एकान्त में बैठ एकाग्रचित्त हो किसी ग्रन्थ के अवलोकन से आनन्द उठा सकें। परन्तु नहीं, महाराजा साहब पुस्ताकावलोकन के बड़े प्रेमी हैं; राजकाज से छुट्टी पाकर वे शीघ्र अपने पुस्तकालय में जा बैठते हैं। दर्शनशास्त्र उनका प्रिय विषय है। भारतवर्ष के दर्शनशास्त्र के गूढ़ विषयों का मिलान ये युनानी दर्शनशास्त्र से किया करते हैं। भारतवर्ष, इङ्गलिस्तान, युनान, और रोम का इतिहास प्रायः पढ़ते हैं, मिः *गिबन की रची पुस्तकें इन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। महाराजा साहब लिखते हैं कि "मि. ब्राइस की Democracy और टोकवाईल, मिल और फ़ौसेट की रची पुस्तकों का मैं प्रायः अध्ययन करता हूँ। हर्बर्ट स्पेन्सर लिखित Treatise

* एक अङ्गरेज़ी ग्रन्थकर्ता जिसने Wealth of the nation, Rise and Fall of the Roman Empire इत्यादि पुस्तकें लिखी हैं।

on Education मुझे अधिक प्रिय है, परन्तु उनका दर्शनशास्त्र मैं पसन्द नहीं करता। शेक्सपियर लिखित नाटकों को मैंने बड़ी सावधानी से मनन किया है, और वेन्थाम और मेन की पुस्तकें मुझे अत्यन्त प्रिय हैं"।

महाराजा साहब जैसे अपनी विद्या, न्याय और अनुशासक के अन्यान्य गुणों के लिये प्रसिद्ध हैं, वैसे ही अपने सद्स्वभाव और सच्चरित्रता के लिये सराहे जाते हैं। अपने राज्य में उन्हें किसी जाति का पक्ष नहीं है, अच्छे गुण और विद्या के ग्राहक हैं, चाहे वह किसी वेष वा वर्ण में हो। श्रीमान के धार्मिक भाव बड़े उच्च हैं। अपनी प्रजा का प्रतिपालन और देशहितैषिता को वह अपना मुख्य धर्म समझते हैं। समाज में जो जो कुरीतियां धर्म्म के नाम पर फैल रही हैं, उनके संशोधन के लिये वे अन्तःकरण से बद्धपरिकर रहते हैं।

महाराजा साहब राजकाज, तथा समाज-संशोधन में ऐसे प्रवृत्त रहते हैं और विश्राम उन्हें इतना कम मिलता है, कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया है, और इसीलिये परिवर्तन के हेतु वे प्रायः युरोप चले जाया करते हैं। इन भ्रमणों में वे महाराणी साहिबा को भी अपने साथ रखते हैं। महाराजा साहेब चार बेर युरोप गए हैं। इनके इस रिफार्म का इनकी प्रजा पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है; और इनकी देखादेखी इनकी प्रजा भी अपने पुत्रों को शिक्षा पाने के लिये युरोप भेज रही है। महाराजा साहेब अपने दोनों राजकुमारों को शिक्षा के हेतु बैलियल और इटन कालेज भेजने को हैं।

अब मैं यह लिख कर अपने इस निबन्ध को समाप्त करता हूं कि भारतवर्ष के दूसरे रजवाड़ों को उचित है कि जिस प्रकार श्रीमान महाराज सियाजी राव ने विद्या में, विज्ञान में, कला में, कौशल में, शिक्षा प्रचार में, समाजसंशोधन में तथा दीन दुखियों की सुध लेने में अपने राज्य को भारत में एक आदर्श स्वरूप बना दिया है, वैसे ही वे इन्हें अपना आदर्श स्वरुप बना कर इनके नियमों का अनुकरण करें और अपनी प्रजा तथा पठितसमाज के प्रशंसा के पात्र हों।

---

## रोशनआरा

### पांचवां परिच्छेद।

पहिले तो राजा पालकी में रहे। कुछ दूर जाने पर सिपाहियों के सर्दार के कहने से वे पालकी पर से उतर पड़े। राजा के उतर जाने पर कहारों से उसने कहा तुम लोग पालकी लौटा कर राजा के घर ले जाओ। राजा ने भी सिर हिला के ले जाने का संकेत किया। जब पालकी दृष्टि से बाहर चली गई, तब सिपाहिओं के सर्दार ने राजा से कहा, मैं तो हुक्म के ताबे हूं, मेरे अपराध पर ध्यान न दीजिएगा; अब इसी जगह से आज्ञा है कि आपकी आंखों पर पट्टी बांध के ले जांय।

राजा ने इसका कोई जवाब न दे सिर तो झुका लिया, पर भीतर ही भीतर जीवन की आशा भी छोड़ दी। यह उनके जी में निश्चय हो गया कि मेरी जान मारने के लिये वज़ीर ने ये सब बन्दोबस्त किए हैं। बेबस हो राजा अपने इष्ट देव का नाम स्मरण करने लगे।

आखें बांधे हुए राजा को बहुत दूर न जाना पड़ा। थोड़ी ही दूर पर एक द्वार खुला, और पीछे से फिर वही द्वार बन्द किया गया। यह किवाड़ के खुलने और बन्द होने से जान पड़ा। फिर कुछ सीढ़ियां मिलीं, और तब ऐसा जान पड़ा मानो किसी घर के अन्दर से जा रहे हैं। जो राजा को पकड़े लिए जा रहा था, खड़ा हो गया और राजा की आंखों की पट्टी खोली गई।

राजा को एक छोटी कोठरी में लिवा ले गए। वहां उन्होंने चारों ओर निहार के देखा तो सिवाय एक खटिया के और कुछ भी न देख पड़ा। जो राजा को लिवा ले गया था, उसने कहा—यही स्थान आपके रहने के लिये ठीक हुआ है; आप यहां से भागने की चेष्टा न करें, क्योंकि बाहर कड़ा पहरा है;

खाने पीने को इसी जगह आ जाया करेगा। इतना कह वह द्वार खोल कोठरी से बाहर निकर द्वार को बाहर से बन्द कर चला गया।

बिबस राजा उस पुरानी खटिया पर बैठ गए। मारे दुःख के उनकी आंखें भर आईं।

एक छोटे से झरोखे से उजेला आता था। राजा बैठे बैठे उधर ही मुँह किए उजाला देखने लगे। जी में कोई आशा न बची थी, मानो जीवन की गांठ खुल चुकी थी। मृत्यु के आने का भी जी में खुटका था, क्योंकि वहां तो यह भासता था मानो सशरीर ही उन्हें पृथ्वी से बाहर निकाल लाए हैं, न तो लौटने की सामर्थ्य है और न जी ही चाहता है।

धीरे धीरे उजेला भी घटने लगा। सन्ध्या से कुछ पहिले एक आदमी कुछ भोजन और पानी रख कर चला गया। रतनचन्द को भूख तो ज़रा भी न थी, पर प्यास के मारे गले में कांटे पड़ रहे थे। चट जल का लोटा हाथ में उठा सोचने लगे कहीं इसमें विष मिला न हो। और जो मिला भी हो तो डर काहे का! चाहे वज़ीर हो या बादशाह हो, जिस किसीपर वे अप्रसन्न होते हैं, वह बहुत थोड़े दिन जीता है; तो रतनचन्द कै दिन जियेंगे? ऐसा सोचते हुए रतनचन्द ने पानी मुंह से लगाया पर उसमें तीता, कड़ुआ, कसैला, किसी प्रकार का कोई स्वाद न था। तब तो वे बेखटके जल पी गए।

राजा को एक रात हज़ार रात सी बीती और नींद उनसे कोसों अलग रही। खोटी खोटी चिन्ताओं में सारी रात बीती। दूसरे दिन दोपहर को पहिले दिनवाला मनुष्य कुछ खाना पानी धर गया, पर राजा से एक बात भी न बोला। राजा ने कुछ अन्न जल न किया। सन्ध्या से कुछ पहिले कोठरी का द्वार खुला और एक मनुष्य भीतर आया। उसे देख राजा उठ खड़े हुए और वज़ीर की कही हुलिया मिलाने लगे। पर जब उसकी उंगली मे शाही अँगूठी देखी तो सब जी का सन्देह मिट गया।

उस ने कहा, "राजा रतनचन्द! तुम्हें न वज़ीर ने और न बादशाह ने कैद किया है; तुम्हें मैंने कैद किया है, अब यह शायद समझ गए होगे। डरो मत, क्योंकि तुम ऐसे छोटे से मनुष्य को मार मुझे क्या करना है। तुम्हें दो चार बातें कहनी है, इसीसे पकड़वा मंगवाया था। वज़ीर अबदुल्ला खां मुझसे कुछ चिढ़े हुए से हैं, कोई बात सुना नहीं चाहते, इससे तुम्हें कहता हूं। तुम वज़ीर के गुलाम हो, यह मुझे मालूम है। मेरे बल का कुछ परिचय वज़ीर को मिल चुका है और तुमने मेरी चालाकी भी देखी। अब वज़ीर साहेब से कह देना कि मेरे कामों में रोक टोक न किया करें। मेरे आगे वज़ीर तो क्या, बादशाह हो को भला मैं क्या समझता हूं? जब चाहूं तो इस मुग़लों की सलतनत और तैमुरी वंश का दुनिया से नाम तक उड़ादूं। पर मुझे ऐसा न करना होगा, मौक़ा पाकर आपही मटिया मेट हो जायगी। मुझे तुम और तुम्हारे मालिक को इतना ही कहना है कि मेरे कामों में छेड़ छाड़ न करें, जो मैं चाहूंगा तो तुम्हें और तुम्हारे मालिकों को चींटी सा रगड़ डालूंगा।"

राजा आदमी और मौका खूब समझते थे। उन्होंने देखा यह गुस्से का मौका नहीं है। इससे विनय करके बोले, भला मैं आपके कामों में टांग क्यों अड़ाने लगा? आपकी तो मुझ से इसके पहिले कभी भेट भी नहीं हुई थी, आपका नाम तक मैं नहीं जानता। उसने कहा—"मैंने तुमसे जो कुछ कहा है वज़ीर से कह देना, अब जो मेरा कोई भी अपराध किया तो याद रखना, दोनों में से किसीको न छोड़ूंगा।"

राजा रतनचन्द भकुआ से सुना किए। उसने अपनी उंगली से अँगूठी उतार कर राज को देके कहा—इसे वज़ीर को लौटा देना। अभी इसकी मुझे ज़रूरत नहीं है। इतना कह वहां से वह चला गया। सन्ध्या के बाद दो नौकरों ने आकर राजा की आंखों पर पट्टी बांध पहिले के समान उन्हें लौटा लेगए फिर सड़क पर कुछ दूर लाकर आंखों पर से पट्टी

खोल आप एक ओर चले गए। राजा ने आँखें खोल कर देखा तो ठीक उसी जगह अपनेको पाया जहां पकड़े गए थे। छुटकारा पाते ही अपने घर की ओर राजा भी दम छोड़ कर भागे। पैदल दैाड़े जा रहे हैं इस बात को उस समय उनके जी में तनिक भी लाज न आई।

यह सुनते हो कि रतनचन्द अपने घर पर लैाट आए हैं, वज़ीर ने अपने यहां उन्हें बुला भेजा। हथियार बन्द सिपाहियों के साथ ले राजा वज़ीर के यहां पहुंचे। जो कुछ उनपर बीती थी सब ब्योरेवार राजा ने वज़ीर से कह सुनाई, उनके दोहराने की अब आवश्यकता नहीं है। राजा की बातों को सुन वज़ीर बड़ाही चकित हुआ। आगे किसके सिर कैसी विपद पड़े इसी चिन्ता में दोनों व्याकुल हुए।

## छठवां परिच्छेद

सवेरे उठ के राजा रतनचन्द कुतुब-उल-मुल्क के दरबार में चले ही थे कि इतने में रोशनआरा के पति ने सामने आकर सलाम करके कहा "राजा साहब, मेरे बारे में आपने क्या किया?"

राजा कुछ शरमाए। असल बात छिपा कर बोले "भाई, अभी तक कुछ पता नहीं लगा। मेरे आदमी तो चारों तरफ़ घूम फिरे"।

फ़ारसवासी—यहां एक साँई बाबा आए हुए हैं, उन्होंने मेरी मदद करने को कहा है।

राजा मुस्किरा के)—वे कैान हैं?

फ़ारसवासी—यह तो मैं नहीं जानता। ओैर यहां उन्हें कोई पहिचानता भी नहीं। कहां से आए हैं यह भी नहीं मालूम। वे एक बेर आपसे मिला चाहते हैं।

राजा रतनचन्द ने भैांह सिकोड़ कर कहा—ऐसा कोई नहीं है जो मेरा घर दिखा दे?

फ़ारसवासी ने रुक कर कहा—वह किसी के मकान पर नहीं जाते।

यह सुन राजा चकित न हुए, क्योंकि उस समय बादशाह तक साधुओं के डेरे पर मिलने जाया करते थे। ओैर ऐसा भी सुनने में आया है कि बादशाह को साधू फ़क़ीर ताज़ीम नहीं देते थे। किसी फ़क़ीर ने जहांगीर शाह बादशाह को कहा था कि मैं बादशाहों के बादशाह को भजता हूं, इससे दिल्ली के बादशाह की क्या हक़ीक़त है। ऐसी कड़ी बात पर जहांगीर नाराज़ न हुए। राजा रतनचन्द कुछ सोच कर बोले, अच्छा, वे अगर तशरीफ़ न लावें तो मैं ख़ुद उनके पास चलूंगा।

बहुत से नैाकर चाकरों को साथ ले राजा रतनचन्द फ़क़ीर साहब की मुलाक़ात को गए। नदी किनारे एक छोटी सी कुटिया में साँई साहब रहा करते थे। राजा रतनचन्द ओैर फ़ारसवासी उस कुटी के अन्दर गए; ओैर लोग बाहर रहे।

राजा ने जाकर साँईं को हाथ जोड़ा। उसने हाथ उठा कर दुआ दी, पर वह अपने आसन पर से न उठा। वह एक गेरूआ वस्त्र पहिरे हुए था। बड़ी लम्बी दाढ़ी, सिर घुटा हुआ, चेहरे पर झलकता हुआ तेज, प्रशस्त ललाट के नीचे अन्तर्भेदी आँखें थीं। उसकी अवस्था लगभग ५० की होगी, पर शरीर पर बुढ़ापे का कोई चिन्ह न था। वह चाहे जो हो, पर ढकोसलेबाज़ साधू न था।

फ़क़ीर—तुम राजा रतनचन्द हो?

राजा ने हाथ जोड़ कर कहा—हुज़ूर का गुलाम हूं।

फ़क़ीर फ़ारसवासी पर इशारा करके बोला—"इसपर कैसी विपद पड़ी है तुमने सुना है न? पर क्या इस शहर के हाकिमों से उसका कोई बन्दोबस्त नहीं हो सकता?"

राजा—इन पर जैसी विपद है, हमलोगों पर भी वैसी ही विपद है। आदमी की बात हो तो उसका बन्दोबस्त हो, पर अज़ग़ैबी बला क्योंकर टल सकती है?

फ़क़ीर—अजग़ैबी बला पर तुम्हें एतबार है?

राजा—जो ख़ुद आँख से देखी जाय उसे क्योंकर न माने?

फ़क़ीर—जैसा ख़तरा तुम्हें है, वैसाही वज़ीर को भी है ?

राजा ने इसका कुछ जवाब न दिया। साँई ने फिर कहा-तुम्हें एक बात कहनी है। वह यह है कि अगर इसकी औरत इसे मिल जाय, तो वज़ीर अपने खोटे ख़याल उसपर से हटालें और नहीं तो बड़ी आफ़त में पड़ेंगे। मैं जाना चाहता हूं वज़ीर इस बारे में क्या जवाब देते हैं।

चकित हो राजा ने कहा—वज़ीर के मन की बात आपको क्योंकर मालूम हुई ?

साँई—यह पूछके क्या करोगे। जो मैंने कहा तुम उतनाही वज़ीर से कह देना।

राजा रतनचन्द वज़ीर के पास गए। राजा से सब बातें सुन ख़ुद वज़ीर राजा के साथ साँई से मिलने आए। साहब सलामत के बाद वज़ीर ने कहा—आपका कहा मेरे सिर आँखों पर है, पर इस आदमी से हमलोगों को बचाइए, इतनी ही हमारी अर्ज़ है।

सां—जो कहता है वह भी इसी खोटे काम में फँसा है, अब उसकी वह ताकत न रही। तुम मेरे साथ आओ।

कुटी से बाहर आकर साँई ने कहा—किसी को साथ लेने की कोई ज़ुरूरत नहीं है। तुम अपना भेस बदलकर मेरे साथ आओ।

साँई से मिलने पर वज़ीर और राजा का उसपर ऐसा विश्वाश हो गया था कि जो वह कहता, बिना आगा पीछा विचारे वे उसे स्वीकार कर लिया करते। फारसवासी भी उनके साथ हो लिया।

आगे आगे साँई रास्ता दिखाता जाता था और पीछे पीछे वज़ीर और राजा चले जा रहे थे। इस भांति कुछ दूर जाने पर एक पतली सी गली मिली। उसके अन्दर जाकर एक दुमहले मकान के आगे सब लोग खड़े हो गए। साँई ने पुकारा- "नसीर खां !"

द्वार खुलते ही, वज़ीर और रतनचन्द का पहिचाना हुआ पुरुष बाहर आया और साँई के सम्मुख हाथ जोड़ सिर झुका कर खड़ा हो गया।

सांई ने फारसवासी को इशारा करके कहा-नसीर ख़ाँ, तुम इसकी जोरू को क्यों भगा लाए हो ?

नसीर ख़ाँ इस सवाल का कुछ जवाब न दे चुप चाप खड़ा रहा।

सांई उस मकान के अन्दर घुसगया, और उसके पीछे सब लोग हो गए। सांई ने फ़ारसी से कहा-तुम्हारी जोरू इसी मकान के अन्दर है, उसे ले आओ।

फारसी बोला—अब वह नापाक हो गई, मैं अब उसे न लूंगा।

सांई ने जवाब दिया—जो नापाक हुई होगी तो अपनी राज़ी से। चाहे नसीर ख़ाँ बदमाश हो, पर उसको इतनी जुर्रत नहीं है कि ज़िना बिलजब्र करे। और शायद ऐसा फेल करे तो जिस ताक़त से वह ऐसा ताकतबर हो रहा है, वही ताक़त उसे बरबाद करे देगी।

तब वह फारसी जाके घूंघट खींचे हुई रोशन आरा को लिवा लाया। सांई ने नसीर ख़ाँ से पूछा-क्या तुमने इस औरत का बदन छूआ है ?

नसीर ख़ाँ—मैंने इसे नहीं छुआ।

रोशन आरा ने भी सिर के इशारे से उसके कहने को स्वीकार किया।

सांई ने फ़ारसी से कहा—तुम्हारी जोरू पाक है, इसपर किसी तरह का गुनाह नहीं है। मेरे कहने से बिना कोई शक़ व शुबह के तुम इसे मंज़ूर करो।

फिर नसीर ख़ाँ से बोला—नसीर ख़ाँ, तुम कौल चूके। जो गुनाह तुमसे हुआ है उसके लिये तुम्हें मुआफ़ी मांगनी चाहिए। अच्छा मेरे साथ चले आओ।

और वज़ीर और राजा से कहा-बेख़ौफ तुम अपने घर जाओ, यह अब तुम्हें न दिखाई देंगे।

साँई घर से बाहर आए। नसीर ख़ाँ उसके पीछे हो लिए*।

## आलोचक और आलोचना

आजकल हिन्दी काव्य-आलोचकों की संख्या बहुत बढ़चली है। प्रायः कोई ऐसा मासिक पत्र प्रकाशित नहीं होता जो "आलोचना" इस उत्तमोत्तम सारगर्भित शब्द से सुशोभित न पाया जाता हो। क्या यह हिन्दी साहित्य के लिये अल्प सौभाग्य की बात है! कोई कार्य क्यों न हो, आलोचना सभी के लिये आवश्यक है। यदि यथार्थ रीति से प्रत्येक विषय की समालोचना की जाय तो उसके द्वारा बहुत कुछ लाभ होना सम्भव है; क्योंकि आलोचना के बिना न तो किसी विषय की उपयोगिता सिद्ध हो सकती, न उसकी निर्दोषिता और उसके गुणत्व का सम्यक् बोध ही हो सकता है। मनुष्यकृत रचना में यदि किसी प्रकार की भूल रह गई हो, तो उसको युक्तितः सिद्ध करके प्रत्यक्ष बतला देना और तद्गत श्लाघ्य विषयों का उपपादन करना, यही आलोचना का मुख्य तात्पर्य है। (आ उपसर्ग पूर्वक लोच् धातु से आलोचना शब्द बना है—आ समन्तात् लोचनं दर्शनमित्यालोचना; अर्थात् अच्छी भांति देखने को आलोचना कहते हैं)। अतएव किसी विषय की आलोचना का साहस करना साधारण बात नहीं है। जिस विषय का जो पूर्ण ज्ञाता नहीं है, वह उस विषय की समालोचना करने का अधिकारी क्योंकर हो सकता है। इसलिये जिन महाशयों को आलोचक बनने की विशेष उत्कण्ठा हो, उन्हें प्रथम आलोच्य विषयक पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लेना मुख्य साधन है। तत्पश्चात् वे आलोच्य विषय की समालोचना में अधिकार जमावें। परन्तु आलोचकों को इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि, यदि द्रष्टव्य विषय की गुण गणना न कर दोष दिखलाने चले हैं, तो उत्तम रीति से जाँच के ही दोषोद्घाटन करें, क्योंकि अदोष पदार्थ में दोषारोपन करने से कदाचित् आलोचकों ही का दृष्टिदोष गिना जाय; जैसे कोई किसीको ध्यान करने के समय आंख मूंदे हुए देख बिना विचार किए ही चट उसे अन्धा कह कर पुकार ने लग जाय, और कुछ काल के अनन्तर उसको आंखें खोलते हुए देख अपने दृष्टिदोष पर लज्जित हो समाज में दोषभाजन बन बैठे। समालोचकों को चाहिए कि आलोचना करने के समय अपनी दृष्टि को शुद्ध कर लें और किसी प्रकार की मलीनता उसमें न रहने दें, तब दृश्य पदार्थों के गुणदोषों की बिवेचना करें; क्योंकि कभी कभी अपने नेत्रदोष से भी पदार्थों पर दोषाध्यास होना सम्भव है। यह तो प्रत्यक्ष है कि जिनके नेत्र में पीलापन आजाता है, तो वे विशद पदार्थ को भी पीत कह कर अपने नयनदोष का परिचय देने लगते हैं और सामाजिक लोग उनके कहे हुए को एक कौतुकमात्र समझते हैं। ऐसे ही शास्त्ररूपी चक्षु होते हुए भी जिनका ज्ञानप्रदीप विषयवायु से ताड़ित होकर लुप्त होगया है, उनको अपने हृदयागारस्थ बिवेकरत्न ही का प्रत्यक्ष होना कठिन है; फिर वे दूरदर्शी सूक्ष्म विषयों को आलोचना क्या करेंगे, और हठात् उनकी की हुई आलोचना सभ्यसमाज में कैसे माननीय हो सकती है? शास्त्रपरिनिष्ठित बुद्धि न होने के कारण ग्रन्थकर्ता के आशय को बिना समझे ही उसके सदर्थबोधक विषय में दोष दिखलाना मानो एक प्रकार से अपना उन्माद प्रगट करना है। यद्यपि बड़े से बड़े विद्वानों के कृत सिद्धान्त में कुछ भूल निकल जाय तो असम्भव नहीं, क्योंकि मनुष्यमात्र से भूल होनी सम्भव है, तथापि गुणदोषाध्यासक समालोचकों को इस बात का तर्क कर लेना आवश्यक है कि ग्रन्थकर्ता ने किस अभिप्राय से किस प्रकरण में किस शब्द को किस अर्थ में प्रयुक्त किया है; तत्पश्चात् गुण दोष की बिवेचना में हाथ डालना न्यायविरुद्ध न होगा। सारांश यह है कि बहुत से प्राचीन ग्रन्थान्तर्गत

* बा० नगेन्द्रनाथ गुप्त की आज्ञा से उनके बङ्गला उपन्यास से अनुवादित।

समीचीन विषयों का आशय अपनी अल्पज्ञता के कारण न जान पड़ने से उस सदुक्ति के अयुक्तितर कह कर इतर लोगों की बुद्धि को संशय में डाल देना कदापि समुचित नहीं। अस्तु, इस प्रस्ताव को यहां समाप्त कर प्रसङ्गवशात् काव्य लक्षण के विषय में मैं कुछ अपना अभिप्राय प्रकाशित करना चाहता हूँ; यद्यपि हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं० श्यामविहारी मिश्र, एम. ए., और पं० शुकदेव-विहारी मिश्र, बी. ए., इस विषय का एक लेख "सरस्वती" के प्रथम-भाग की द्वादश संख्या में लिख चुके हैं और स्वेच्छानुकूल हिन्दीकाव्यगत कतिपय दूषणों को दिखला चुके हैं। यदि उक्त महाशयों की भांति निष्पक्षपात हो अपने विशद विचार के सहारे काव्यगत गुण दोषों की समीक्षा की जाय, तो निस्सन्देह थोड़ेही दिनों में काव्य की अपूर्व योग्यतायुक्त शोभा झलक पड़ेगी।

उक्त हिन्दीकाव्य के आलोचक महोदय लिखते हैं कि, हमने भाषाकाव्य प्रणाली के गुणों की कुछ भी विवेचना किए बिना केवल उसके दोषों ही पर विचार किया है। इस लेख के लिये वे पहिले ही क्षमाप्रार्थी होचुके हैं। अस्तु, यह आलोचक की इच्छा पर निर्भर है कि प्रथम गुणगौरव की ओर दृष्टि न देकर दोषों ही का अनुशीलन करे। अच्छे आलोचक प्रायः पहिले दोषों ही का अनुसन्धान करते हैं। किसी कवि ने भी कहा है "यस्य योऽस्ति हितप्रेप्सुः सतद्दोषं पुरः स्पृशेत्"। मिश्र जी महोदयों ने हिन्दीकाव्यगत बहुतसी भूलें निकाली हैं, परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि उसमें कितनी भूलें ठीक हैं; क्योंकि उक्त महोदयों ने जो बाबू जगन्नाथदास बी.ए. (रत्नाकर) कृत काव्य लक्षण का खण्डन किया है उसकी समीक्षा पं० किशोरीलाल गोस्वामी सरस्वती के द्वितीय भाग की प्रथम संख्या में प्रकाशित कर चुके हैं, जो मेरी समझ में भी युक्तियुक्त प्रतीत होती है। अनन्तर इसके सिरमौर और शशिभाल जी ने साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास कृत काव्यलक्षण में अतिव्याप्ति दोष देकर निजकृत काव्यलक्षण में कुछ विलक्षण विचक्षणता प्रगट की है, अर्थात् पण्डितराज और रत्नाकर जी इन दोनों कवियों के कहे हुए लक्षणों को फेंट फांट कर अपना एक नवीन लक्षण बना लिया है और उसे ही काव्य का शुद्ध लक्षण मान लेना उचित समझा है।

अब व्यास जी लिखित लक्षण पर ध्यान दीजिए। उन्होंने अपनी गद्यकाव्यमीमांसा में काव्य का लक्षण यों लिखा है कि "लोकोत्तरानन्द दाता प्रबन्धः काव्यनामभाक्। दृश्यं श्रव्यमिति-द्वेधा तत्काव्यं परिकीर्त्तितम्॥" मिश्र जी लिखते हैं कि प्रबन्ध शब्द अनेकार्थबोधक है, इसलिये ऐसे शब्द का प्रयोग किसी पदार्थ के लक्षण में करना ठीक नहीं। पाठकवृन्द! तब पदार्थ के लक्षण ही में क्यों वरं और और स्थान में भी अनेकार्थ-बोधक शब्द का प्रयोग न करना ही उत्तम होगा; क्योंकि यदि कोई "हरये नमः" कहै और कोई यही समझ ले कि इसने वानर को प्रणाम किया है, नमस्कर्ता का आशय भगवद्वन्दना ही का क्यों न हो। "सैन्धवो धावति" इस वाक्य के सुनने से क्या किसी को लवण दौड़ने का भ्रम नहीं हो सकता? यदि कोई बोल उठै कि "पयो वर्षति", अवश्यही किसीके मन में दूध का बरसना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध सर्वथा असम्भव जान पड़ेगा। इसी प्रकार और भी जितने अनेकार्थवाची शब्द हैं, वे कितने मनुष्यों के लिये अवश्यमेव भ्रमोत्पादक हैं और ऐसे शब्दों का प्रयोग तो काव्यलक्षण के लिये यथार्थ ही में भारी भ्रमोत्पादक है। इससे तो यही अच्छा होता कि अनेकार्थबोधक शब्दों के अन्यान्य अर्थों को उड़ाकर उनमें केवल एकही अर्थ का समावेश रहने दिया जाता। ऐसे नियम के बर्ताव से विशेष लाभ तो यह होता कि कितने गम्भीर बुद्धिवाले विवेकियों को काव्य के लक्षणोपयोगी प्रबन्ध इत्यादि अनेकार्थबोधक शब्द में दोष, कपट, इन्तज़ाम आदि अनपेक्षित अर्थों का भ्रम होना कदापि सम्भव न होता।

उक्त महोदयों ने प्रबन्ध शब्द का अर्थ किया है "प्रकर्षेण वध्यत इति प्रबन्धः", और इसी धात्वर्थ पर आरूढ़ हो प्रबन्ध शब्द का अर्थ इन्तज़ाम आदि में सन्निवेशित किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु यदि हम कोष की ओर दृष्टि न देकर शब्दार्थ विवेचना के लिये केवल व्याकरण ही का आश्रय लिया करें, तो बड़ा गड़बड़ उपस्थित होजायगा, क्योंकि ऐसे बहुत शब्द हैं जो व्याकरण की व्युत्पत्ति से और ही अर्थ बतलाते और कोष के द्वारा वे और ही अर्थ में व्यवहृत किए जाते हैं और सब कोई उसे सादर स्वीकार करते हैं। अब यदि मैं मिश्र जी की सम्मति से अनेकार्थबोधक शब्द का प्रयोग किसी पदार्थ के लक्षण में उचित न समझूं तो अभिधाशक्ति का सर्वनाश होना ही सम्भव है।

प्रबन्ध शब्द का अर्थ भले ही बहुत हो, परन्तु जब कोषकार ने ऐसा लिखा है कि "प्रबन्धो वाक्य-विस्तर" अर्थात् प्रबन्ध शब्द वाक्यविस्तर-बोधक है, तब जिस वाक्यसमुच्चय में लोकोत्तरानन्द-दातृत्व है, वह निस्सन्देह काव्य है, जिसका समर्थन पं० किशोरीलाल गोस्वामी अपनी समीक्षा में भली भांति कर चुके हैं। अतएव ऐसे स्थान में जहां कि काव्य लक्षण के लिये प्रबन्ध शब्द का प्रयोग किया गया है, वहां प्रबन्ध का अर्थ बाजा बजाना, अथवा सेनाओं की व्यूह रचना मानकर लक्षण में अति व्याप्ति दोष देना सर्वथा प्रकरणार्थविरुद्ध है। यदि उक्त लक्षण में प्रबन्ध का अर्थ वाक्यसमुच्चय न मान इनतिज़ाम ही आदि लेकर अतिव्याप्ति दोष दिया जाय, तो शिरमौर और शशिभाल जी ने जो अपना यह लक्षण लिखा है कि "वाक्य अर्थ वा एकहू जहँ रमणीय सु होय—शिरमौरऽरु शशि-भालमत काव्य कहावै सोय"। इसमें रमणीय शब्द का अर्थ आप वही मानते हैं जो पं० जगन्नाथ कवि ने माना है, अर्थात् "रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-जनक ज्ञान गोचरता"। यदि मैं भी इस समय मिश्र जी महोदय के दत्त नियमानुसार विशेषण रूप रमणीय शब्द का अर्थ रमणस्य भावः रमणीयः, अथवा रन्तुं योग्यमिति रमणीयम् मानलूं और "तव पुत्रो जातः" इस वाक्य की रमणीयता पर काव्यत्व का होना स्थिर करूं, तो फिर मिश्रजी कृत काव्य लक्षण की अतिव्याप्ति बात बात में व्याप्त हो जायगी। अतएव मिश्र जी ने जो रमणीय शब्द का अर्थ अलौकिक हर्ष माना है उचित समझा है। और इसी प्रकार व्यास जी ने जो प्रबन्ध शब्द का अर्थ कोषानुसार वाक्यसमुच्चय अर्थात् योग्यता-कांक्षासक्तियुक्त पदोच्चय रक्खा है, बहुत ठीक है; और यह लक्षण रत्नाकर जी के इस लक्षण से कि "होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहावै सोय," मिल जाता है, क्योंकि रत्नाकर जी ने भी रमणीय का अर्थ लोकोत्तरानन्द ही माना है और इस लक्षण का शुद्ध होना पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने युक्ति पूर्वक बतलाया है।

इसके अनन्तर मिश्र जी महोदय दृश्य काव्य का अभिप्राय और तत्प्रयुक्त भावार्थ समझ जाने पर भी दृश्य शब्द के वाच्यार्थ में परिगणित कर धोखे में आगए। जब तक हमलोग केवल धात्वर्थ ही की ओर दृष्टि फैलाते रहेंगे, तब तक ग्रन्थकर्त्ता के आशय समझने में इसी प्रकार अवश्य ही कोलाहल होता रहेगा। इसीलिये साहित्यकार ने लिखा है कि अर्थोवाच्यश्च व्यंग्यश्च लक्ष्यश्चेति त्रिधा मतः। व्यंग्यो व्यञ्जनयाताःस्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः। इत्यादि। और काव्य के जो दो भेद व्यास जी ने माने है बहुत ठीक हैं। साहित्यदर्पणकार ने भी षष्ठ परिच्छेद की द्वितीय कारिका में लिखा है कि "दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्। दृश्यं तत्राभिनेयं तदित्यादयः।

दृश्यकाव्य के विषय में मुझे और कुछ लिखना शेष रह गया है, जो अवकाश पाने पर फिर किसी दूसरी संख्या में लिख कर प्रकाशित करूंगा। अब विशेषतः मेरी प्रार्थना यह है कि इस लेख में यदि मैंने प्रमात् कुछ असङ्गत बातें लिखी हों तो पाठक-वृन्द उसे क्षमा करेंगे। किमधिकमितिशम्॥

---

## बालकविनोद

### कोकिल

[१]



कोकिल अति सुन्दर
चिड़िया है;
सच कहते हैं
अति बढ़िया है।
जिस रङ्गत के
कुँवर कन्हाई
इसने भी वह
रङ्गत पाई॥

[२]

अथवा जामुन का रँग जैसे
इसका भी होता है तैसे।
ज्योंहीं चैत मास लगता है
जाड़ा अपने घर भगता है॥

[३]

त्योंहीं यह अति मीठी बानी
नित्य बोलती है रससानी।
आम-मौर इसको अति प्यारा;
सत्य सत्य यह बचन हमारा।

[४]

मौरों के सुगन्ध की माती
कुहू कुहू यह सब दिन गाती।
मन प्रसन्न होता है सुनकर
इसके मीठे बोल मनोहर॥

[५]

सम्मुख आम वृक्ष के ऊपर
देखो, वह आती है उड़कर।
बोलो मत; उँगली न उठावो;
आवो, वहीं चलें सब, आवो॥

[६]

मीठी तान कान में ऐसे
आती है, बंशी धुनि जैसे।
सिर ऊंचा कर मुख खोलै है;
कैसी मृदु बानी बोलै है!

[७]

इसमें एक और गुण भाई।
जिससे यह सबके मन भाई।
यह खेतों के कीड़े सारे
खा जाती है बिना बिचारे॥

[८]

जिस परमेश्वर ने दिया यह पक्षी गुण धाम।
प्रेम सहित कर जोड़कर उसे अनेक प्रणाम॥

## वर्षाऋतुवर्णन

[ कालिदास के ऋतुसंहार से ]

( जुलाई में प्रकाशित से आगे )

जोर सों बादरवा गरजै
सु छिन पै छिन घोर सुनावत भारी।
हाथ को हाथ सुझात नहीं।
अति कारी कराल झुकी अँधियारी॥

ऐसेहू औसर पै नहीं चूकत
प्रेम पगी अभिसारिका नारी।
पीय की गैल दिखावत है
चपला की प्रभा जिनको अति प्यारी॥

घोर भयावनी मेघन की
मन में अति आतुरता उपजावति।
त्यों दमकामनि दामिनि की
दुति दूनी दिखाय जिय डरपावति॥

भारी किये अपराधन हूं
तव कन्त के तीय तुरन्त भुलावति।

अंक में आय निसंक ह्वै सेज पै
　भेटि निरन्तर कंठै लगावति ॥

नीले सरोज से नैनन सों
　अंसुआन की बूंदन को झर लावति ।
बिम्ब से होठन के सुठि पल्लव
　सींचि तिन्हें तिन सों अन्हवावति ॥

छाँड़ि दियो है सिंगार सबै
　नहीं धारति माल न गन्ध लगावति ।
छाये बिदेस पिया जिन के
　तिय पावस सो ह्वै निरास बितावति ॥

मैलैा मटीलैा महा गदलैा
　तृन कीट अनेकन संग लिये ।
दैारत सर्प सैा दर्प भरैा
　गति वक्र सों कुण्डली चक्र दिये ॥

भेक की भीर निहारी रहीं
　दृग फारि धरैं भय भारी हिये ।
ऐसैा नयैा जल मेघन कैा
　थल नीचे कों जात सुहात प्रिये ॥

पत्र पुष्प बिन देख कमलिनी को
　मधुकर अब त्याग चले ।
श्रवण सुखद गुंजित रव करते
　उत्सुक मन अनुराग भरे ॥

गिरे नृत्यरत मोरों की
　चन्द्रिका चक्र पर मूढ़ बड़े ।
नव उत्पल के भ्रम से सत्वर,
　रस पराग सुख आस धरे ॥

सुन के नव घन घोर हुए बनगज मद माते ।
बारबार हो मुदित, हर्ष चिंघार सुनाते ॥
जिनके विशद कपोल विमल-उत्पल-आभाधर ।
सोहैं मद में* सने, घने लिपटे हैं मधुकर ॥

[ क्रमशः

* अथवा 'लसैं दान में'

# बुंदेलखण्ड पर्य्यटन

[ गत अङ्क के आगे ]

## नगर का कोट

यहां से चल कर हमें कोट देख पड़ा। झांसी द्वार से हमने इसमें प्रवेश किया। यह कोट अब केवल रर रह गया है। शेरशाह तथा औरंगज़ेब के समय के मुसलमानों की लड़ाइयों में धुआँधार तोपों के गोलों के प्रहार से इस ओर की भीत नितान्त सिलपट होगई थी। तब यहां रर बांधी गई। रर इस देश में उस भीत को कहते हैं जो पत्थर गढ़ कर बनाई गई हो और पत्थर चूने से न जोड़े गए हों। यह रर भी अब ठौर ठौर पर टूट गई है। प्राचीन झांसीद्वार से मार्ग अब बन्द कर दिया गया है। उसमें अब निराश्रय दीन व्यक्ति रह कर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मार्ग के लिये एक नवीन द्वार रर के पत्थर हटा कर खोल लिया गया है। इसीमें होकर हमने ओड़छे नगर में प्रवेश किया। पाठकगण! अब इस रर पर आपको प्रहरी देख नहीं पड़ेंगे। तथापि यह रर ऐसी सुरक्षित है कि कोई व्यक्ति इसपर चढ़ने का साहस नहीं करता। नगर में अब रघुनाथ जी विराजते हैं। अस्तु उनकी सेना के लंगूर और बन्दर ही अब इस रर के रक्षक और प्रहरी हैं। उनके कारण सरलता से मनुष्यों को मार्ग चलना भी कठिन है।

## मार्ग

एक सीधा मार्ग रर से ले तुङ्गारण्य और कञ्चनाघाट तक मरहटों की हवेली के नीचे से होकर चला गया है। यह मार्ग ककरीली भूमि पर बहुत चैाड़ा है, इस कारण इसमें कच्चे मार्ग का कोई कष्ट नहीं होता। मार्ग के किनारे पर प्रायः वृक्षों का अभाव है, परन्तु उभय ओर मीलों तक कोसों की चैाड़ाई में पक्के मकानों के खण्डहर, दूकानों के दर, चैातरे और धनाढ्यों के घरों के

उत्तुङ्ग द्वार तथा भीतें देख पड़ती हैं। गङ्गा के मार्ग में मदार के गीतों की भांति इन्हीं खण्डहरों पर एक बड़े विस्तृत उत्तुङ्ग शिखरमय मसजिद देख पड़ती है। उसीके दूसरी ओर प्रतीतराय के महलों के द्वार खड़े हैं। जहां तक दृष्टि जाती है वहां तक खण्डहर ही खण्डहर देख पड़ते हैं, जो इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि, ओड़छा एक समय में इस देश का एक अद्वितीय नगर था और कवीन्द्र केशव के "नगर ओड़छो जहं बसै पण्डित मण्डित भीर" वाक्य को सत्य करता था। परन्तु शोक, कि वहां न अब पण्डित हैं न पांडित्य, न चतुर हैं न चातुरी ; निर्जन और निस्तब्ध हो यह श्रीमानों के निवासस्थान स्यारों के विश्रामागार हो रहे हैं; और निखण्ड काली अर्धनिशा में केवल इन्हीं वनजीवों का रोदन तथा वायुसंयोग से पत्तों की खड़खड़ाहट प्रकृति देवी की निद्रा को प्रहरी रूप से चौकानेहार प्रतीत होते हैं। नगर के मध्यभाग में सड़क ने एक हवेली को काटा है, जिसका नाम हमें मरहटों की हवेली बताया गया। इसपर मीने का काम अत्यन्त सुन्दर है। मार्ग से अब वह बीस हाथ के लग भग उंचाई पर है, और टीलों पर होकर उसका मार्ग है, मार्ग की ओर से नहीं। उसी हवेली की पूर्व दिशा को ओर हरसिद्धि माई का मन्दिर है। संक्षेपतः यह मार्ग श्रीमानों के मन्दिरों का योंही हृदय विदीर्ण करता हुआ बाज़ार में पहुँचता है। यह एक छोटा सा पांच छः दूकानों का बाज़ार है, जिसमें ग्रामीणों की विशेष विशेष आवश्यकता की वस्तुएं, आटा दाल आदि, मिल जाया करती हैं। हा शोक ! एक दिन वह था जब ओड़छे का हाट इस देश भर में प्रसिद्ध था और लोगों की दृष्टि में एक चमत्कार ठौर प्रतीत होता था; परन्तु दैवदुर्विपाकवश अब वह ऐसा उजड़ा है कि ग्रामों के हाटों से भी हीनदशा में है। दूकानवाले दीन दुखित श्रीहत से प्रतीत होते हैं। बाज़ार में पहुंच कर सड़क त्रिशूलाकार हो जाती है। एक शाखा रघुनाथ जी के मन्दिर, नौचौकिया फूलबाग और चतुर्भुज जी के मन्दिर की ओर जाती है। दूसरी बेत्रवती से समानान्तर रेखा में होकर व्यासपुरा, महाराज वीरसिंह देव के समाधिमन्दिर, कञ्चनाघाट, तुंगारण्य की ओर जाती है। तीसरी शाखा बेत्रवती की एक भुजा पर के पुल से होकर राजमन्दिरों की ओर जाती है। यह मार्ग त्रिशूल ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी वीर ने ओड़छे के अभाग्यकारी दुर्दैव से युद्ध करने और ओड़छे को भाग्य रक्षा के लिये इसको दुर्भाग्य समय सन्धाना हो; परन्तु काल की कराल गति को स्वयं न सम्हाल कर दुर्दैव के भीषण आक्रमण से वह वीरशिरोमणि मृत्यु की तीव्र डाढ़ का ग्रास होगया, और उसका वीरास्त्र त्रिशूल वहीं पड़ा रह गया हो। पाठक महाशयो ! धैर्य धरिए, अभी हम आपको इस त्रिशूल की इन्हीं तीनों शाखाओं पर लिवा ले चलेंगे। यद्यपि त्रिशूलधारा पर चलना सहज कार्य नहीं है, परन्तु यदि आपको अपने पूर्वजों की भक्ति है, यदि आप उनके सुयश को सुन सुख पानेहारे हैं, तो आप प्रेमवश निस्सङ्कोच इन तीव्र धाराओं पर चल सकेंगे; क्योंकि दुर्गम और दुस्तर धाराओं के तारने की नौका केवल प्रेम ही है।

## नौचौकिया फूलबाग

पाठक महाशयो! इस त्रिशूल की मध्य भुजा से दाहिनी ओर चलकर आपको एक विस्तृत बाटिका मिलेगी जो नौचौकिया फूलबाग के नाम से प्रसिद्ध है। यह राजमन्दिर की बिलासबाटिका है। दीर्घदर्शी महाराज मधुकरसाह ने अपने नौ पुत्रों के रहने के लिये नौ चौक का एक राजमन्दिर बनवाया और उसके मध्य भाग में यह बाटिका लगवाई थी। इसके बृक्षों के घरुए पक्के बने हैं और बिचित्र आकार के बनाए गये हैं। थालों के मध्यभाग में एक ऊंची बैठक का पक्का एकखण्डा वर्गाकार मन्दिर बना है। यह राजकुमार हरदेवसिंह की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। इसके चतुर्दिक बहुत बड़ी बड़ी तिखण्डी चौखण्डी दालानें और कमरे बने हैं। सैकड़ों फुहारों

की पातें बाटिका में फैली चली गई हैं। जब कभी उनमें जल संचार होता है, तब वह एक विशेष कौतूहल का कारण होता है और सैकड़ों यात्री इस उत्सव को देखने के लिये श्रावण मास में एकत्रित होते हैं। बाटिका में नाना प्रकार के फल फूलादि के लहलहे वृक्ष अपने आरोपण करनेहारे के स्मारक की भांति खड़े हैं। एक कमरे के नीचे, जिसमें टीकमगढ़ नरेश के राजकर्मचारी बहुधा आन कर ठहरा करते हैं, एक पत्थर का प्याला, जिसमें मनुष्य डूब जावे, रक्खा है। इसमें यह विचित्रता है कि यह बजाने से कांसे के बर्तन की भांति बजता है। इसके निकट एक बहुत बड़ा भुंइहरा (तहखाना) है जो फूलबाग से लेकर बावली के निकट होता हुआ बाज़ार तक फैला चलागया है। उसमें उजेले तथा वायु के प्रवेश के लिये दो बड़े ऊंचे ऊंचे खम्भे बने हैं जो सांवन भादों नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके मुख पर पानी भरा थी, इस कारण हमने उसमें प्रवेश नहीं किया, परन्तु बाहर ही से ऐसा अनुमान हुआ कि यह भुंइहरा एक दिव्य स्थान है, और ऐसा बड़ा स्थान इस प्रकार का कोई दूसरा नहीं है। इसी कमरे में महाराज टीकमगढ़ के प्रसिद्ध राजकर्मचारी- "प्रिंसीपैल रेवेन्यू आफ़िसर ओड़छा स्टेट", मौलवी सय्यद मुहम्मद मुर्तज़ा साहब ठहरे हुए थे। मौलवी साहब एक बड़े सज्जन पुरुष हैं। आप बनारस के रहनेहारे हैं। आपने हमारा बड़ा ही सत्कार किया और बड़े प्रेम से हमें और राजामन्दिर दिखवाए। हम आपके अत्यन्त अनुगृहीत हैं और आप की सुजनता की जहां तक प्रशंसा करें न्यून है। फूलबाग अभी तक अच्छी दशा में है। इस बाटिका में एक बड़ी शोकप्रद ऐतिहासिक दुर्घटना हुई थी। कहते हैं कि जब ओड़छाधीश, महाराज बीरसिंह देव के पीछे, दिल्लीश्वर की राजसभा में रहने लगे, तब राज्यप्रबन्ध का भार राजकुमार हरदेवसिंह के सिर पर पड़ा। अपना कार्य सभी भली भांति सम्हालते हैं। राजकुमार दत्तचित हो राज्य प्रबन्ध करते रहे। उनके प्रबन्ध में घूंस खानेहारों का निर्वाह न था। जिन लोगों का पेट घूंस ही के द्वारा भरता था, उनको हरदेव सिंह से ईर्षा उत्पन्न हो गई और राजप्रबन्ध हरदेव सिंह से छीनने का वे लोग प्रयत्न करते रहे। राजकुमार की भक्ति अपनी भ्रातृपत्नी में माता के समान थी और वह भी अपने देवर को पुत्रवत् ही मानती थीं। परस्पर यही सम्बन्ध सदैव रहता था। पुत्रवत्सला माता को जैसे अपने पुत्र को बिना देखे चैन नहीं आता, वही दशा उनको भ्रातृपत्नी की थी। विश्वासघाती प्रतीतराय ने यह देख भ्राताओं में वैमनस्य कराना चाहा और एक पत्र राजा को लिखा कि राजकुमार का राजमहिषी से अश्लील सम्बन्ध है। सत्य है "विनाशकाले विपरीत बुद्धिः"! राजा ने पत्र पढ़ राजमहिषी के सतीत्व में सन्देह कर परीक्षा करनी चाही। आतेही राजमहिषी से कहा कि यदि तुम्हारे सतीत्व में अन्तर नहीं पड़ा और तुम्हारा हरदेव सिंह से घृणित सम्बन्ध नहीं है, तो तुम अपने हाथ से उसे विष दो। राजमहिषी ने बड़े दुःख से अपनी धर्मरक्षार्थ प्रस्ताव स्वीकार किया और भोजन प्रस्तुत किए। कहते हैं कि जब वह भोजन हरदेव सिंह को परोसने लगी, तब उनके अश्रुसंचालन हो उठा। हरदेव सिंह ने क्लान्त हो पूछा कि माता! आज पुत्र को खिलाने में तुम क्यों रोती हो? क्या मैंने कुछ तुमको दुख दिया है, भूमि की तृप्ति तो मघा के बरसे और पुत्र की तृप्ति माता के परोसने से होती है। क्या आज तुममें कुछ मातृस्नेह न्यून हो गया है जो तुम रोती हो? राजमहिषी चीख मार कर रो उठीं और जब हरदेव सिंह ने बहुत प्रबोध किया तो बोली कि वत्स! अब मैं माता कहे जाने के उपयुक्त नहीं हूं! महाराज को मेरे सतीत्व में सन्देह हुआ है। जगत प्रलय होते हुए भी स्त्री का पहिला धर्म सतीत्व रक्षा है; अस्तु उसीकी इस समय परीक्षा ली गई है, जिसके कारण तुमसा देवर, जो वास्तव में मेरे पुत्र के समान ही था, आज विष भोजन कर रहा है और अपनी धर्म रक्षा के लिये आज मुझ दुर्भागिनि को यह घोर

वत्सहत्या करनी पड़ी। हरदेव सिंह यह सुनते ही उस भोजन को बड़े प्रेम से शीघ्र शीघ्र खाने लगे और बोले कि माता! यह भोजन मेरे लिये अमृत समान है। तेरी धर्मरक्षा से मेरी सुकीर्ति युगानुयुग होगी। राजमहिषी इन सौजन्यपूरित वाक्यों को सुन और भी कातर हो उठीं। उनके ज्येष्ठ भ्राता यह धर्मपरीक्षा और धर्मभक्ति देख कर्तव्यविमूढ़ पत्थर की प्रतिमासम मुग्ध हो अपनी दुर्बुद्धि पर रोने लगे। हरदेवसिंह जी वहां से रसोई का विषपूरित शेष भोजन उठवा लाये और उन्होंने अपनी दशा का अन्तिम समाचार अपने मित्रों, सेवकों और कर्मचारियों से कहा, उनमें से कितनेही हरदेव सिंह जी के सद्गुणों से ऐसे अनुरक्त थे जो उनके साथ ही चलने को उद्यत हो गए और बहुतों ने वही विषपूरित भोजन पा लिया। हरदेव सिंह जी के प्यारे हाथी घोड़े को भी वही भोजन खिलाया गया। हरदेव सिंह जी अपनी बैठक के बँगले में बैठ गए। प्रेमरस पानेहारे थोड़ी देर में झूम झूम गिरने लगे। हरदेव सिंह जी अपनी सेना के अग्रणियों का स्वर्गमार्ग में बढ़ना देखते ही देखते स्वयम् भी झूमने लगे। अन्तकाल-रूपी अश्व इनके लिये प्रस्तुत होने लगा। जब विष की तरंगों की उमंगें आपके शरीर में उठने लगीं, तब आप बाटिका के बँगले से उठ एक पत्थर के टुकड़े पर, जो रघुनाथ जी के मन्दिर के आँगन में ठीक मूर्ति के सम्मुख गड़ा है, मर्य्यादापुरुषोत्तम की मूर्त्ति के सम्मुख हाथ जोड़ आ बैठे और ध्यानावस्थित आंखें किए प्रेमपूर्ण लड़खड़ाती बाणी से त्रैतापहारी अवधबिहारी से अपने पापों की क्षमा और उनकी दया की भिक्षा मांगने लगे और थोड़ीही देर में वहीं समाधिस्थ हो अटल निद्रा में ब्रह्मानन्द के स्वप्नों के दृश्य देखने लगे। महाराज हरदेव सिंह उसी समय से प्रख्यात हरदेव लाल के नाम से बिशूचिका के दिनों में पुजने लगे। इनके चौतरे समस्त भारतवर्ष में ठौर ठौर बने हुए हैं। हरदेवसिंह जी की मृत्यु के पीछे समस्त ओड़छे में उदासी छागई। राजा के इस जघन्य कर्म की निन्दा सजातीय और विजातीय सब लोग करने लगे और ऐसे अविवेकी महाराज के साथ को सर्वदा भयप्रद जानकर उनसे सम्बन्ध तोड़ बैठे। सम्बन्धियों ने भी महाराज से नाता तोड़ा। ओड़छे के लिये यह बड़े अभाग्य का दिन था। हमें इस बँगले के देखते ही वह दिन और दृश्य स्मरण आगया और अविवेक का जो अन्तिम फल होता है वह आंखों के सम्मुख घूमने लगा। यहां से चल हम चौक में पहुंचे।

### रघुनाथजी का मन्दिर

यह चौक महाराज मधुकुरसाह के स्वयं रहने का है। सुनते हैं कि पहिले यह राजमन्दिर था। इसके द्वार पर बड़े बड़े खण्डहर पड़े हैं। न जाने ओड़छाधीश ऐसे देवस्थान के द्वार को ऐसा अरम्य रहने देना क्यों उचित समझते हैं। द्वार से यह स्थान बहुत दिव्य नहीं प्रतीत होता। एक मालिन चौखट के निकट बैठी यात्रियों के हाथ फूल मालादि बेचा करती है। अन्दर प्रवेश करते ही बड़ी बड़ी उत्तुङ्ग दुहरी दालानें, कोठे, आदि जो राज्यमन्दिर के समीचीन हैं, देख पड़ेंगे। इस मन्दिर का आंगन वर्गाकार बहुत बड़ा है। आंगन में तुलसी के वृक्ष के निकट वह पत्थर गड़ा है जहां राजकुमार हरदेव सिंह ने अपने अन्त समय में बैठकर रघुनाथ जी के दर्शन करते हुए अन्तिम स्वांस ली थी। उसीके निकट वह तीन प्याले गड़े हैं जिनमें हरदेव सिंह जी के भोजनों में मिलाने को विष घोला गया था। हा हन्त! वह विष हरदेव सिंह ही का घातक न था, किन्तु ओड़छे के राजवंश की सुकीर्ति का भी घातक हुआ। आजतक वे प्याले हमें कुल कलह के अनिष्ट फल का स्मरण दिलाते हैं। इसके सामने एक बड़ा लम्बा चौतरा है। इसपर एक बड़ी दालान तीन खण्ड की है। ऐसी ही दालानें चारों ओर हैं। यह दालान कांच, बर्तन, गोले और चित्रों से अलङ्कृत है। इसी दालान के भीतर राघवेन्द्र की मनोहर प्रतिमा है। महाराज मधुकुरसाह के राजप्रासाद

का देवालय हो जाना भी एक ऐतिहासिक सम्वाद है। पाठक महानुभावो! कहते हैं कि महाराज मधुकरसाह की राजमहिषी महाराणी गणेश देवी ने एक बार एक विचित्र स्वप्न देखा। जब महाराणी अपने शयनागार में पुष्पशय्या पर एक निशा स्वस्थ और शान्तभाव से सो रहीं थीं, तब उन्हें अकस्मात् एक श्यामल बालक, जिसकी दैवी छवि थी, देख पड़ा। महाराणी ने देखा कि वह बालक खेलते खेलते एक अगाध सरिता में निमग्न हो गया और वहां से बड़ी मधुर बाल-वाणी में पुकार कर महाराणी से कहने लगा कि रानी! मुझे लीजिए। यह स्वप्न देखते ही महाराणी चौंक पड़ीं। अर्धनिद्रित दशा में ऐसी विव्हल हो उठीं कि उस बालक को लेने के लिये उठ खड़ी हुईं और जब ध्यान आया कि वह तो स्वप्न था, तभी वहीं मुग्धभाव से खड़ी हो रहीं। परन्तु इसी क्षण से उस धर्मधुरीणा दयाशीला महाराणी के हृदय में वह बालछवि बस गई। रात दिन सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते, वही बालक उनकी आंखों के सम्मुख फिरने लगा। महाराणी की तन दशा भी बदलने लगी और चिन्ता से शरीर भी कृशात हो गया। होते होते इस स्वप्न का वृत्तान्त महाराज तक पहुंचा। महाराज ने राजपण्डितों से इसका मर्म पूछा। उन दीर्घदर्शियों ने विचार कर एकमत हो उत्तर दिया कि दीनबन्धु! ऐसा ज्ञात होता है कि कोई देवमूर्ति किसी दुर्घटनावश किसी जलाशय में पड़ गई है और महाराणी को धर्मधुरीणा जान अपने उद्धारार्थ आदेश कर रही है। रानी ने भी इस उत्तर से सहमत हो महाराज से तीर्थयात्रा की आज्ञा चाही। महाराज ने सहर्ष आज्ञा दी और यात्रा का प्रबन्ध कर दिया। महाराणी गणेशदेवी ने यह नियम किया कि जब वह किसी तीर्थ में पहुंचती थीं, तो यथाविधि देवाराधन कर जलाशय में स्नानार्थ प्रवेश करतीं थीं और यह कह कर कि "महाराज! आइए, मैं सेवा को प्रस्तुत हूं", जलाशय में डुबकी लगातीं थीं, और जब कुछ हाथ न आता था तो खिन्न बदन वहां से प्रस्थान करती थीं। महाराणी सब तीर्थों में हो आईं, केवल अयोध्या शेष रह गई। महाराणी का नैराश्य बढ़ता जाता था। होते होते वह अयोध्या में पहुंचीं और यह दृढ़ संकल्प कर कि, यदि यहां भी मेरी आशा पूर्ण न हुई तो इस पापपुंज शरीर की जर्जरित नौका को सरयू के अंक हीं में समर्पण करूंगी, ज्योंही महारानी ने स्वर्ग-द्वार के निकट सरयू में प्रवेश किया और कातर हो भवभयहारी श्री अवधबिहारी की शरणाश्रित हुईं, त्योंहीं "जेहि को जेहि पर सत्य सनेहू-सो तेहि मिलहि न कुछ संदेहू" के न्याय से जल से डुबकी मार के निकलते हुए ही एक दिव्य प्रतिमा उनके हाथों में अपने आप ही आगई। महाराणी ने अपनी खोई हुई निधि फिर से पाई और मारे आनन्द के गद्गद् हो उठीं और तुरन्त जल से बाहर निकल आईं। यहां पर यह स्मरण रखना योग्य है कि श्रीमती को यह मूर्ति पुष्य नक्षत्र में मिली थी, इसीसे उन्होंने यह विचार स्थिर किया कि केवल पुष्य नक्षत्र में ही देवमुर्ति की यात्रा कराई जावे। अस्तु वह पुष्य ही पुष्य नक्षत्र में अयोध्या से चलकर ओड़छे पहुंचीं और अपने राजमन्दिर में उन्हें स्थापन कर आप दूसरे चौक में निवास करने लगीं और अहिर्निश भगवान की सेवा में तत्पर रहने लगीं। इस मन्दिर में स्थापित श्रीरघुनाथजी की विशाल मूर्ति दर्शनीय है। उसका सौन्दर्य वर्णन करते हुए "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" की ही कहावत होती है।

## चतुर्भुज जी का मन्दिर

रघुनाथ जी के मन्दिर के सन्निकट ही यह विशाल मन्दिर है। इसका बहुत कुछ वर्णन हम आगे कर आए हैं, इसलिये इसका अधिक वर्णन यहां पर न कर इतना ही लिखना उचित समझते हैं कि बुंदेलखण्ड भर में यह मन्दिर अद्वितीय है और इसकी सीढ़ियों के प्रस्तरों पर ठौर ठौर शिलालेख हैं; ओड़छे की ऐतिहासिक घटनाओं की

रंगभूमि इसी मन्दिर के चतुर्दिक विस्तृत है; परन्तु न जाने क्यों महाराज ओड़छाधिपति की इस मन्दिर पर अधिक प्रीति नहीं है, क्योंकि यह स्वर्गीय स्थान बहुत मन्द और ऊभट दशा में डाल रक्खा गया है। इस स्थान के उपयुक्त यहां कुछ सामान नहीं है। ओड़छे के पूर्व प्रातस्मरणीय महाराजों के ऐसे बड़े स्मारक के ऐसी अशोभित दशा में पड़े रहने से हमारी समझ में उन महानुभावों की आत्मा स्वर्गलोक में अवश्य दुःखी होती होंगी। यशस्वी महाराज टीकमगढ़ को इस ओर अवश्य ध्यान देना योग्य है।

## किला

यहां से चल वेतवा नदी की एक बाहु पर के पुल पर से होकर हम महाराज बीरसिंहदेव के किले के द्वार पर पहुंचे। इस समय हमें यह सुधि नहीं रही थी कि हम चैतन्य अवस्था में हैं और कुछ दृश्य आखों के सम्मुख देख रहे हैं, अथवा निद्रित दशा में कुछ स्वप्न देख रहे हैं, या अनायास किसी देवलोक में आ गए हैं और वहां के दृश्य देख रहे हैं, अथवा किसी महान कवि की कविता में वर्णित किसी दृश्य का अनुभव कर रहे हैं। बहुत देर तक हम प्रतिमावत् उसी स्थान पर खड़े रहे और भौचकवत् देखा किए। न पग आगे पड़ता था न पीछे ही हटा जाता था। अपने पूज्य भ्राता श्रीयुत बाबू मुन्नूलाल जी के अनुरोध करने से कुछ अपनी चैतन्य दशा का स्मरण आ गया। किले के द्वार से प्रवेश कर सबसे प्रथम जनहीन जहांगीरपुर नामक मन्दिर में प्रवेश किया। यह राजप्रासाद मुग़ल सम्राट जहांगीर के नाम से प्रसिद्ध है; क्योंकि जहांगीर जब अपने घनिष्ट मित्र बीरसिंह देव जू के अतिथि हुए थे, तब वह इसी राजप्रासाद में ठहराए गए थे। इसी मन्दिर को शीशभवन भी कहते हैं। बहुत ऊंची बैठक पर यह विस्तृत राजमन्दिर तीन खण्ड ऊंचा बना है। इसका आँगन बहुत स्वच्छ और लम्बा चौड़ा है। लाल पत्थर की सीढ़ियां तीनों खण्डों में लगी हुई हैं। मन्दिर का आकार वर्गक्षेत्र का है। प्रत्येक खण्ड में चौड़ी चौड़ी खुली छतें और उनके समानान्तर बन्द कमरे, जिनमें खिड़की, झरोखे, गोखे हैं, बने हुए हैं तीसरा खण्ड भी ऐसा ही है। उसपर के कलश और कंगूरे तथा गुमजियों की सुराहियां मीने के काम से अलङ्कृत हैं। इसीके चतुर्दिक किले की दीवारें मीलों तक फैली चली गई हैं। यह राजप्रासाद इतना विस्तृत है कि उसमें घूमने से और सीढ़ियों पर चढ़ने से बलवान मनुष्य भी थक जाते हैं। इसके दूसरी ओर एक फाटक है जो रनबास का द्वार था और सिंहपौर के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि प्रेतयज्ञ की बीभत्स चर्चा पहिले पहल उसीके सन्निकट किसी मन्दिर में उठी थी। इस अनुपम राजमन्दिर की छत पर से समस्त ओड़छा हथेली पर की रक्खी हुई वस्तु के समान देख पड़ता है। अपने पदों के नीचेही किले की दिवारों के भीतर उगा हुआ भयानक बन, राजकर्मचारियों के मन्दिरों के चिन्ह, कुए, बावली, व्यासपुराके खण्डहर भूमितल पर सफेद पगड़ी की भांति फैली हुई वेत्रवती की पीनधारा, मन्दिरों और समाधिओं की पांतें, नगर के ऊजड़ चिन्ह, ओड़छे के निर्जन मार्ग, और वृक्षों पर लंगूरों और बन्दरों तथा पक्षियों के समूह, और भिटारों के निकट स्यार दृष्टि आते हैं। इसके अतिरिक्त केवल निस्तब्धता ही निस्तब्धता बरसती है। हाय, दुष्ट काल! तेरे विचित्र चरित्र हैं! एक दिन वह था जब इसी राजमन्दिर के दीपावली के सम्मुख नक्षत्रावली तुच्छ जान पड़ती थी; सोने और चांदी की शमेदानों में कपूरी बत्तियां जलती थीं; मखमल और अतलस की ज़र्दोज़ी मसनदें बिछी रहती थीं; बीणा की झंकार, मृदङ्ग की धमक, और कोकिल कण्ठ बिनिन्दन कलगान, राजमहिषी राजकुमार, परिचारिका, बन्दी, मागध और सूतगणों के कौतूहल से घनघोर नाद मचा रहता था;—रमणीयता से जहां की भूमि सदा सिंचित रहती थी, बड़े बड़े मान्य पुरुष जिसको देखने को तरसते थे,—हा शोक, आज हमें उस राजमन्दिर को इस

दुर्दशा में देखना पड़ा कि न वहां एक दीपक जलानेहारा कोई था, न झाड़ देनेहारा; सैकड़ों मन लंगूरों की विष्ठा छत और कमरों में भरी पड़ी थी। एक कमरे में एक उल्लू बैठा हुआ देख पड़ा, जो हमारी आहट पाते ही पङ्ख फटफटा कर उड़ा। परन्तु फिर गिर पड़ा। यह दशा देख अश्रुधारा पुनः बहने लगी। फ़ार्सी कवि का एक वचन स्मरण हो आया।

"पर्देदारी मी कुनद बर काख़ किसरा अनकबूत—
चुग्द नौबत मीज़नद बर गुम्बदे अफ़रासियाब"॥

अर्थात्, किसरा ऐसे बली सम्राट के राजमन्दिर में अब दिनों के फेर से मकड़ियों ने जाले तान रक्खे हैं, और अफ़रासियाब से बली की समाधिमन्दिर पर उल्लू बोल रहे हैं। यह मन्दिर ऐसा दृढ़ बना है कि ऐसी, मन्द दशा में छोड़ दिए जाने पर भी कहीं कुछ टूटा फूटा नहीं हैं; हां, कहीं कहीं एक दो गौखों में से पत्थर शिलाएं गिर गई हैं। शोक कि धनी ओड़छाधीश ने उसे भी नहीं सुधराया! यहां से चलकर हम इसीसे मिले हुए राजमन्दिर नामक महल में पहुंचे। इसके द्वार पर दर्बार हाल बहुत सुन्दर सुडौल तिहरी दालान का बना है। इसकी छत में सुनहला और रङ्गीन काम है। ओड़छे के बड़े बड़े दर्बार और राजतिलक के उत्सवादि इसीमें होते थे। इसे देखते ही महाराज वीरसिंह देव जू के प्रवल प्रताप और आतङ्क का चित्र आंखों के सम्मुख घूम जाता है। राज्यसिंहासन के लिये एक ऊंचा चबूतरा सा अलग बना है। भारत के गौरव, मान्यपुरूषों, आर्य-कुल-कमल भास्करों के पवित्र राजसभामण्डप में यद्यपि अब न सिंहासन है न राजगद्दी, तद्यपि हमने उसे पवित्र और मान्य ठौर जान कर नम्रभाव से सच्चे राजभक्त की भांति उसमें प्रवेश किया और उसका समुचित मान कर राज्यमन्दिर में प्रवेश किया। इस मन्दिर में बहुधा टीकमगढ़ नरेश ठहरते हैं। जहांगीरपुर की भांति यह राजमन्दिर भी बड़ा ही विस्तृत और सुन्दर बना है, परन्तु इसमें मीने का काम नहीं है। हां, दीवारों पर और छतों में अद्भुत चित्रकारी अवश्य है और ठौर ठौर शीशे भी जड़े हैं। इसकी स्वच्छता भी जहांगीरपुर से अधिक है। यह किले के फाटक से मिला हुआ है। वेत्रवती इसके बहुत ही निकट बही है। महाराज ने इसमें ऐसे झरोखे बनाए हैं जहां से बैठकर वह श्री चतुर्भुज देव की मूर्ति का मन्दिर के भीतर ही होते हुए सेज से सिर उठाते ही दर्शन कर सकते थे। नीचे का खण्ड इस मन्दिर का कुछ अधिक मलीन हो गया है, परन्तु ऊपर की भीतें बहुत स्वच्छ हैं; और ऐसा जान पड़ता है मानों कारीगरों ने अभी बनाकर काम छोड़ा है। महाराज को यह राजमन्दिर सुनते हैं कि बहुत प्रिय है; तबभी हम यह कहे बिना नहीं रहेंगे कि इस मन्दिर के योग्य इसमें सजावट का नाम भी नहीं है; क्योंकि जहां कहीं सुनहरी बेलें खंडित हो गई हैं, वहां चूना पोत दिया गया है, जो ऐसा जान पड़ता है मानो कमख़ाब के वस्त्र में गाढ़े का पैबंद हो। उदास भाव से इस राजमन्दिर को छोड़ हम किले के एक चबूतरे पर के रक्खे हुए तोपखाने को देखने गए। वह भी दुर्दशा में पड़ा था। कई तोपें भूमि पर पड़ी हैं, किसी के चर्ख के पहिए टूटे हैं, किसीमें रंज का ताल पुर गया है। दुःखावसन्न "सब दिन जात न एक समान" कहते हुए मार्ग-त्रिशूल की दो धारों पर चल आहत होते हुए भी प्रेमविवश हम तीसरी धारा पर चले। इसपर चलते ही हमें कवीन्द्र केशवदास जी के व्यासपुरे के खंडहर देख पड़े। ये खंडहर न थे, किन्तु उन पूर्वजों की, जिनके नाम से अब भी हमारे देश, जाति और साहित्य का गौरव है, हमें बिखरी हुई और पगमर्दित होती हुई अस्थि प्रतीत होती थी, जिनसे हम निर्लज्ज हिन्दूसन्तानों के मुख में कलंक की कालिमा पुतती जान पड़ती थी। धन्य है विद्या-विलासी इंगलैंड! जहां के लोग आज पर्यन्त शेक्सपियर की कुर्सी और मिल्टन के घर को देखने सैकड़ों कोस जाते

हैं और एक तुच्छ चिन्ह तक को प्राणवत् प्रिय जान सुरक्षित रखते हैं; और धिक्, शत धिक्, और सहस्र धिक् है हम हिन्दू सन्तानों को जो अपने देश के गौरवही नहीं किन्तु अपने ही पूर्वजों के स्मारक बनाने की चर्चा कौन चलावे, स्वयम् उनके चिन्हों को, जिनमें हमारा कुछ व्यय भी नहीं हुआ, नाश होने देते हैं, और उसका गौरव नहीं करते। कहते हैं कि इसी व्यासपुरे में कवीन्द्र केशवदास जी का घर था जिसके खंडहर अद्यापि हमें रुलाते हैं। इसीके पास चतुर्भुज जी के मन्दिर के द्वार के निकट एक पीपल का वृक्ष, तथा हनूमान जी की एक छोटी सी मूर्ति है। कवीन्द्र उसी मूर्ति का पूजन करते थे और ऐसा लोगों का कथन है कि प्रेतयोनि में कविवर ने उसी पीपल के वृक्ष पर निवास किया था और भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी से वहीं भेंट कर उन्हें रामचंद्रिका सुनाई थी। इस चर्चा को सुन हमें रोमांच होता था। इसी स्थान के निकट कवीन्द्र के साथ प्रेत यज्ञ में भस्मीभूत होनेहारे प्रसिद्ध प्रेत बारेलला के मकान के खंडहर हैं। लोगों का विश्वास है कि बारे लला अबतक प्रेतरूप में वहां निवास करता और लोगों को अपनी रुचि और उनके विश्वासानुसार सुख दुख देता है। साहित्यप्रेमियों के देखने ही के योग्य यह स्थान है। अनित्य संसार का यह दृश्य भी देख कर हम आगे बढ़े।

### वेतवा का तट, घाट, छतरी

इस समय ग्रहपति का तेज मन्द हो रहा था, विश्रामार्थ वह अस्ताचल की ओर प्रबल बेग से परिधावित थे। अन्धकार का समावेश हो रहा था। धुन्ध बढ़ती जाती थी। पवन का बेग घट गया था, जिससे न बनवृक्षों के पत्र ही खड़खड़ाते थे, न नदी में तरङ्गमाला ही उठ रही थी। तरङ्गमाला का क्या कहना, नदी की धारा तक रुकी जान पड़ती थी। जिधर देखो उधर सांय सांय हो रहा था। यह क्यों? पाठको! यहां ऐसाही होना योग्य था; क्योंकि यहां पर साधारण लोग नहीं, किन्तु वीर, धर्मात्मा, और आर्यकुल के गौरव, प्रातस्मरणीय, प्रतापवान राजा महाराज अपने आयुष और कर्तव्यों की यात्रा पूर्ण कर अटल निद्रा में निद्रित पड़े सो रहे हैं। ऐसे वीरों को निद्रित देख प्रकृति का भी हियाव नहीं पड़ता कि वहां कोलाहल करे, उनकी निद्रा छुटावे। अस्तु, वह भी वहां इस समय निस्तब्ध हो रही थी और हमें वहां का चित्र दिखा यह शिक्षा दे रही थी कि, संसार के चरित्रों को देख मौनधारण करो, बोलने से कुछ कार्य्य साधन नहीं होने का; क्योंकि इसकी यात्रा का अन्तिम फल मौन ही है। अन्यथा यह कब सम्भव था कि जिन महाराजाओं के आतङ्क से दिग्गज थर्राते थे, उनकी अन्तिम शय्या की यह दुर्दशा हो कि उन्हींका समाधि-मन्दिर तक पूरा न बने। महाराज मधुरकुरसाह की छतरी जलमग्न हो जावे, और कोई उसका उद्धार भी न करे। जिन वीरकेशरी वीरसिंह देव के विमल यश से राजपूत वंश का मुख उज्वल है, उन्हींकी अस्थियों की समाधि पर करोड़ों मन नदी की बालू और सड़े गले दुर्गन्धित पदार्थ पड़े हैं। जिनके उत्तुङ्ग शिखरमय गगन-पथ-भेदी राजमन्दिरों पर पवन के भी आसन नहीं जम पाते थे, उन्हींकी अपूर्ण समाधि-शिखर पर कटीली घास उग रही हैं, कौवे, चील, गीध और उल्लूकों ने अपने घोंसले बनाए हैं। जिनके यश से आर्यावर्त आज प्रकाशित हो रहा है, जिनके बाहुबल के उपार्जित राज्य की आय से आज लाखों घरों में दीपावली होती है और साधारण उत्सवों में लाखों रुपए विदेशीय लोगों को प्रसन्न करने के लिये आतशबाज़ी में फूंक दिए जाते हैं, हाय शोक, आज समय के फेर से उन्हीं महाराज वीरसिंहदेव की समाधि में कोई एक दिया भी बालनेवाला और झाड़ू लगानेवाला नहीं है। न किसीमें इतनी पितृभक्ति है कि उस अधूरे समाधि-मन्दिर को पूरा कर दे। दिनों का फेर यही है। इस दशा को देखकर प्रकृति के अनुकूल ही वहां मौन




ओड़छा के गढ़ से बड़े मन्दिर का दृश्य।




झांसी का क़िला।

धारण करना पड़ा; दुःख और विमूढ़तावश कंठावरोधन सा हो आया; आंख भरकर यह चित्र देख तुंगारण्य होते हुए महाराज सामन्तसिंह और महाराणी हिमअंचल कुंवरि की अरक्षित खण्डित मूर्तियों का दर्शन करते हुए, इस स्मशान भूमि में चित्त की उमंगों की भी दाहक्रिया कर दीपक जलते समय मलिन चित्त से वेत्रवती के निर्मल जल का आचमन कर कालदेव को प्रणाम करते हुए झाँसी की ओर लौट चले।

## बाणभट्ट

[ पूर्व प्रकाशित के आगे ]

चन्द्रापीड़ का विद्याध्ययन पूर्ण होजाने पर उनके पिता उन्हें उज्जयिनी को लौटा लाए और उन्हें युवराजपदाभिषिक्त करना बिचारा। तब एक दिन उनके पिता के मन्त्री शुकनास ने उन्हें उस प्रसंगानुकूल उचित उपदेश प्रदान किया। यह उपदेश सामान्य पुस्तक के आठ दश पृष्ठों में समाविष्ट हो सके इतना है। इसमें तारुण्य, राजलक्ष्मी, ठकुरसोहाती करनेवाले नरपिशाच एवं धूर्त लोग आदि द्वारा राजपुत्रों को जो अनर्थकारक आपत्ति होती हैं, उनका कविसंप्रदायानुरूप अलंकारिक वर्णन किया है। इस स्थल पर बाण कवि ने अपने शब्दार्थ के अक्षय कोश को पूर्ण रूप से प्रगट किया है। इसमें से राजलक्ष्मी के वर्णन को हम अपने रसिक पाठकों के पठनार्थ यहां पर उद्धृत करते हैं—

" आलोकयतु तावत् कल्याणाभिनिवेशी लक्ष्मीमेव प्रथमम्......चपला दीप्यते तथातथा दीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म केवलमुद्वमति "।

चन्द्रापीड़ के दिग्विजयार्थ प्रस्थित होने पर उसके सैन्य की पदरज उड़ी थी। उसकावर्णन नीचे उद्धृत किया जाता है—

शनैः शनैश्च बलसंक्षोभजन्मा क्षितेरनेक वर्णतया क्वचिज्जीर्णशफरक्रोड़धूम्रः ................... विस्तारमुपगन्तुमारेभे।

उक्त वर्णनप्रधान संग्रहों को पढ़, अपने कवि की वर्णन करने की शैली, श्लेष, उत्प्रेक्षा, प्रभृति अलङ्कार चमत्कृति आदि की कल्पना हमारे पाठकों के चित्त में बहुत कुछ आ गई होगी। अब भिन्न प्रकार के दो संग्रह और उद्धृत कर इस लेख को शेष करते हैं।

महाश्वेता के उक्त दुःख वृतान्त को सुन कादम्बरी ने यह निश्चय कर लिया था कि यावतकाल पर्य्यन्त महाश्वेता, पतिविरहित रहेगी, तावत् काल पर्य्यन्त मैं विवाह कदापि न करूंगी। उसके इस हठ से उसके चित्त को हटाने के लिये उसके माता पिता ने पराकाष्ठा की, पर उसने एक न सुनी। अन्त में उन लोगों ने महाश्वेता को ही यह सन्देसा भेजा कि तू भी तो कुछ कह सुन कर उसे अनुकूल कर। उन के आज्ञानुसार उसने अपनी सखी तरलिका को उसके पास भेजा था, सो उसके साथ वहां से आया हुआ वीणावादक केयूरक कादम्बरी को सन्देसा कहता है।

"भर्त्तिदारिके! महाश्वेता देवी कादम्बरी दृढ़दत्तकण्ठग्रहा त्वां विज्ञापयति............स्वन्येऽपि पुनरिममर्थं मनसि इत्याभिधाय तूष्णीमभूत्॥

उक्त संग्रह की स्वतन्त्ररूप से यहां पर प्रशंसा करनी अनावश्यक है। यहां पर हमारे कवि ने कथा की नायिका का पाठकों को किञ्चित् परिचय दे उसकी गम्भीरता, उदारता, स्नेहशीलता, चतुरता आदि गुण प्रदर्शित किए हैं। इन सबका पाठकों के चित्त पर ऐसा कुछ प्रबल संस्कार होता है कि अगला वृत्तान्त पढ़ने के लिये उनका मन अतीव उत्कण्ठित होता है।

उक्त समस्त संग्रह 'कादम्बरी' के पूर्वार्द्ध के ही हैं, अर्थात् स्वयं बाण कवि लिखित हैं। अब यह अन्तिम मात्र तत्पुत्र लिखित उत्तरार्द्ध से उद्धृत किया जाता है। अकेले इसीको पढ़ उसकी कवित्व शक्ति और पूर्वार्द्ध पूर्ण करने की योग्यता का पाठक गण अनुमान कर सकते हैं।

कथा के आदि का तोता चन्द्रापीड़ का पूर्व जन्म का मित्र अर्थात् मन्त्री शुकनास का पुत्र, वैशम्पायन था। दिग्विजयार्थ निकली हुई सेना चन्द्रापीड़ का पता लगाते लगाते जब महाश्वेता के आश्रम के पास पहुंची थी, तब वह भी उसके साथ में था। इसके अनन्तर एक बड़ी विलक्षण घटना हुई है, वैसी बहुधा कहीं भी * न हुई होगी। वैशम्पायन पूर्व जन्म का ऋषिकुमार पुण्डरीक था। अतः पूर्व जन्म में जहां पर महाश्वेता के साथ उसकी शृङ्गारलीला हुई थी, वहीं पर कर्म्म धर्म्म-संयोग से वह पुनः आगया। उस समय एक दिन ऐसा हुआ कि

अन्यस्मिन्नहनि आहतायां प्रयाणभेर्य्यां सज्जी क्रियमाणे..................................................
चक्षुषा लतामण्डपमालोकितवान्।

उसे सहसा ऐसी अवस्था को प्राप्त होते देख सैन्य के लोग आश्चर्य्य चकित हो रहे। अनन्तर उन लोगों ने वहां से निकल आने के लिये उससे बहुत अनुरोध किया, सबने उसकी प्रार्थना की, और अन्त में निर्भर्त्सना भी की। तौभी वहां से उठने तक का उसे विचार न हुआ। अन्त में वह उन्हें कहता है —

"किमहमेतावदपि न वेद्मि यद्गमनाय मां भवन्तः प्रतिबोधयन्ति......लतागहने पुनरुपविश्य तस्थौ।"

उक्त लताभवन का वर्णन कितना रमणीक है! साथही वहां पर वैशंपायन के मन में पूर्व जन्म के बिरह वृत्तन्त का किञ्चितस्मरण अस्पष्ट रूपसे उद्भूत * हो उसकी चित्तवृत्ति में अचानचक जो विकार उत्पन्न हो गया, उसका और उस समस्त घटना का उक्त वर्णन पढ़ती बार मन तल्लीन हो उसकी वृत्ति कैसी विलक्षण हो जाती है। वर्त्तमान घटना कोई सामान्य नहीं है। यहां पर समस्त कथानक का रुख फिर कर चिरकाल के अनन्तर आदि की कथाभाग का यथार्थ रूप किंचित् दृष्टिगत होने लगता है। एतावता इसे बड़ी चतुराई से निबाह ले जाने के लिये मूल कवि की ही शक्ति अपेक्षित थी। पूर्वार्द्ध रचयिता ने वर्त्तमान स्थान पर सर्वथा उसीको प्रगटित किया है।

हम समझते हैं कि बाणभट्ट के विषय में लिखने योग्य अब और कोई विशेष बात शेष नहीं रही। तौभी अपने कवि से विदाई के प्रार्थी होने के पूर्व उसपर आता सा देख पड़नेवाले एक महोपारोप का यहां पर निर्णय करदेना आवश्यक बोध होता है। जिन विदेशी लोगों को संस्कृत कविता का अच्छा सा परिचय नहीं है, और जिन्हें उसके प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं है, वा शक्ति नहीं है, अथवा दोनों नहीं हैं, ऐसे एतद्देशीय अनन्यशरण संस्कृतज्ञ लोग उक्त ग्रन्थों के अन्तर्गत बहुतेरे वर्णनों को पढ़ उन्हें बड़े बिलक्षण एवं विचित्र कहा सुना करते हैं। पर वे लोग यह बात नहीं विचारते कि दो भिन्न जातियों के सम्प्रदाय परस्पर में अत्यन्त समता रखनेवाले कदापि नहीं पाए जाते; और उनका वैसा पाया जाना सम्भव नहीं है क्योंकि मनोधर्मों की विभिन्नता जैसी व्यक्तिगत दृष्टिपथ में आती है, वैसी

* इसका कारण स्पष्ट ही है कि पुनर्जन्म का प्रतिपादन केवल हिन्दूधर्म में ही पाया जाता है। योरोप खण्ड में पैथागोरियन लोगों को छोड़ इस मत को कोई नहीं मानता। इस धर्म की हिन्दू लोगों के साथ एक और भी विलक्षण समता पाई जाती है। वह मांसाहार-निषेध विषयक है।

* अनुमान होता है कि इस विचित्र घटना की कल्पना को बाणभट्ट ने 'शकुन्तला' से अनुकृत किया है। उस नाटक के पांचवें अङ्क के प्रारम्भ में एक मधुर गीत सुनकर बिना कारण राजा का अन्तःकरण (उसके मतानुसार) अत्यन्त विरहोत्कंठित हुआ। यह क्या है ऐसा सन्देह कर वह कहता है-रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः तच्चेतसा स्मरतिनूनमबोधपूर्वं भाव स्थिराणि जननांतर सौहृदानि॥

ही उसकी स्थिति जाति में भी अवश्य पाई जानी चाहिए। ऐसी अवस्था में अत्यन्त भिन्नजातीय अंगरेज़ादि लोगों के काव्यसम्प्रदाय का संस्कृत के काव्यसम्प्रदाय से सर्वथा कैसे मेल मिल सकता है! अतः उभय लोगों को उचित है कि देश, काल, और आचार विचारादि के अनुसार परस्पर के यथार्थ रूप का बोध प्राप्त करने के हेतु बुद्धिमानी एवं निष्कपटता पूर्वक यत्न करें। ऐसा करने में कदाचित् हम हार जांय और हमें नीचे देखने की बारी आ जाय, ऐसी शंका कदापि न करनी चाहिए। यहां पर यह लिखने पर उत्साह होता है कि एतद्विषय में इतना दृढ़ बिश्वास होने का कारण विशाल बुद्धि एवं उदारचेता अंगरेज़ पण्डितों के लिखे हुए लेख ही हुए हैं। अस्तु; यह सब समस्त संस्कृत कवियों के विषय में कहा गया। पर बाण कवि जैसे उपन्यास लेखक के पक्ष में अभी और भी एक बात पाठकों को सूचित करने योग्य है। वह यह कि उक्त ग्रन्थ में वस्तुतः वस्तुस्थिति का विरोध करनेवाली अनेक बातें वर्णित की गई हैं–जैसे हंसादिकों का कादम्बरी के महल में परिचितों की नाईं रहना, उसके अन्यत्र चले जाने पर तन्मुख-सुगन्ध प्राप्त्यर्थ भ्रमरों का चेष्टा करना, शबरों के सेनापति का अनेकानेक पक्षियों का वध कर पल्लवासनासीन हो कमललता-पत्र-निर्म्मित पात्र द्वारा जलपान करना, कमल के शुभ्र डंठों को ही खाकर रहना, इत्यादि। पर इन सब कारणों के योग से उक्त ग्रन्थ को सदोष निश्चित करने के पूर्व, गुण दोष विवेचकों का अभिमान धारण करनेवालों को सोचना चाहिए कि बाण कवि का उद्देश्य इतिहास लिखने का न था, किन्तु कल्पित एवं अनोखी कथा लिखने का था; एतावता उसकी कल्पना निर्म्मित अपूर्व सृष्टि को संसार की व्यवहारिक घटनाओं की दृष्टि से देखना, अरसिकता की पराकाष्ठा और वाग्देवी का उपमर्द करने के तुल्य समझा जायगा।

---

# निरीश्वरवाद

ईश्वर है अथवा नहीं है, इस विषय में बहुत प्राचीन काल से विवाद चला आता है। निरीश्वरताविधायक कई धर्म अद्यावधि अपने देश में भी प्रचलित हैं। ईश्वर के अस्तित्व को न माननेवाले बौद्ध, चार्वाक आदि के अनुयायियों से, शङ्कराचार्य के समय तक, यह भारतवर्ष परिपूरित था। परन्तु आचार्य ने जबसे उनके धर्म का मूलोच्छेद किया तब से ये लोग, विशेषतः बौद्ध, इस देश को परित्याग करके अन्यान्य देशों को चले गए।

बौद्धधर्म के अनुयायी ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते। यह धर्म इस समय चीन, जापान, ब्रह्मा और तिब्बत आदि अनेक देशों में सर्वतोभाव से मान्य हो रहा है। इस के अनुयायियों को भी जब हमारे ईश्वरास्तित्वविधायक धर्म्म के सम्मुख हार मान द्वीप द्वीपान्तरों को प्रयाण करना पड़ा, तब अवश्यमेव हमारे धर्म्म में कोई विशेषता है और अवश्यमेव ईश्वर का होना उसके न होने से अधिक योग्यता के साथ सिद्ध किया जा सकता है, यही मानना पड़ता। तथापि, आज, हम निरीश्वरवाद के विषय में कुछ लिखना चाहते हैं।

३—"यह ब्रह्माण्ड स्वयमेव उत्पन्न हुआ है; इसका कर्त्ता कोई नहीं" यह निरीश्वरवादियों का कथन है। "ईश्वर है अथवा नहीं, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता" यह सन्देहवादियों का कथन है। "यह समग्र सृष्टि एक आदि शक्ति से उत्पन्न हुई है, परन्तु अल्पज्ञ मनुष्यों को उस आदिशक्ति के स्वरूपादि का ज्ञान सम्भव नहीं", यह अज्ञेयतावादियों का कथन है। "जब तक यह देह है तभी तक सुख दुःखादि का अनुभव होता है, प्राणोत्क्रमण होने के अनन्तर फिर और कुछ होना शेष नहीं रहता" यह देहात्मतावादियों का कथन है। इन सब मतों में ईश्वर के ऊपर विश्वास नहीं किया जाता।

४—"नास्तिको वेदनिन्दकः" अर्थात वेद की निन्दा करनेवाले को नास्तिक कहते हैं। महा-पण्डित अमरसिंह कृत कोश में, 'नास्तिक' शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है। वेद हमारेही देश के धर्म्म ग्रन्थ हैं, इससे केवल हमी लोग अथवा हमारे ही धर्म्म के अनुयायी उनको मान दे सकते हैं; अन्य देशवाले तथा अन्य धर्मावलम्बी नहीं दे सकते। इस लिये इस भूमण्डल में ईश्वर को न माननेवाले सारे लोगों के विषय में 'नास्तिक' शब्द व्यापक नहीं हो सकता। सब के लिये 'निरी-श्वरवादी' इस शब्द का ही प्रयोग करना ठीक है। तस्मात् इस निबन्ध में जहां कहीं आवश्यकता होगी हम इसी शब्द को उपयोग में लावैंगे।

५-हमारे देश के प्राचीन निरीश्वरवादियों के सिद्धान्तों का अब हम दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

६-बृहस्पति के मत का अनुसरण करनेवाले निरीश्वरवादियों के शिरोमणि कोई चार्वाक जी हो गए हैं। इनका यह सिद्धान्त है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु के योगही से शरीर में चैतन्य उत्पन्न होता है और वह चैतन्य शरीर के नष्ट अर्थात् उन चारो तत्वों के विश्लेषण होने से नष्ट हो जाता है। ये लोग स्वभावही से जगदुत्पत्ति मानते हैं और स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म, परमात्मा किसी को नहीं मानते। इनके मत में आत्मा न ईश्वर का अंश है, न अमर है, और न कर्म्मजन्य फलही उसे भोगना पड़ता है। चेतनाविशिष्ट देह ही को ये आत्मा कहते हैं और प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड़ अनुमानादि प्रमाणों को प्रमाण ही नहीं मानते। इनके मत में यज्ञानुष्ठान, अग्निहोत्र, जप, तप इत्यादि सब निष्फल है। "अंगनालिङ्गनादि" सुखही सुख है; और जिस प्रकार हो उस प्रकार उसका उपार्जन करना ही परम पुरुषार्थ है। इस मत के प्रवर्तक बृहस्पति जी के बचन कई कौतुका-वह श्लोकों में सूत्रित हैं, जिन्हें हम सर्वदर्शनसंग्रह से नीचे उद्धृत करते हैं—

* न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥ १ ॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदंडं भस्मगुंठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता ॥ २ ॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गे ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥ ३ ॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥४॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥५॥
यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागामनं कुतः ॥६॥

जिस मतवालों की तर्कनाशक्ति इतनी बलवती और बिवेकपरम्परा इतनी विशाला थी, उस चार्वाक मत का नाम तक, जो इस समय दो चार दर्शनशास्त्र के जाननेवालों के अतिरिक्त, किसीको विदित नहीं रहा, वह आश्चर्यजनक नहीं।

---

* न स्वर्ग है, न अपवर्ग है, न पारलौकिक आत्मा है और न वर्णाश्रमपरायण मनुष्यों की क्रिया ही किसी प्रकार फल की देनेवाली है।

अग्निहोत्र करना, वेद पढ़ना, त्रिदण्ड सन्यास लेना और भस्म इत्यादि धारण करना निर्बुद्धि और पौरुषहीन आलसी लोगों की जीविका सुख से निर्वाह होने के लिये ब्रह्मा ने बनाया है।

ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि स्वर्ग को जाता है तो यज्ञ करनेवाला यजमान यज्ञ में अपने बापही को क्यों नहीं मार कर उसे स्वर्ग भेज देता?

मरे हुए प्राणियों को भी घर बैठे श्राद्ध करने से यदि तृप्ति हो सकती है तो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वालों के लिये इस लोक में 'सतुआ' बांधना व्यर्थ है। घर में एक बार श्राद्ध कर देने ही से वर्ष भर के लिये छुट्टी हो जानी चाहिए।

उतनी दूर स्वर्ग में रहनेवाले प्राणियों की भी यदि दान से तृप्ति होनी सम्भव है तो यहां बड़े बड़े ऊंचे घरों के दूसरे तीसरे खण्डों में रहनेवालों की उसी प्रकार दान से तृप्ति क्यों नहीं होती?

जब तक जीवन है सुख से रहना चाहिए, और आवश्यकता होने पर ऋण करके भी दूध मलीदा उड़ाना चाहिए, क्योंकि मरने के अनन्तर भस्म हुए शरीर का इस लोक में पुनरागमन होना किसी प्रकार सम्भव नहीं।

जान पड़ता है कि इस मत के आचार्य देवगुरु बृहस्पति ही जी हैं और अपनी स्त्री तारा के हरण किए जाने पर दुःखित हो उन्होंने उन्मत्त की नाईं प्रलाप रूप यह शास्त्र बनाया है। हमने पण्डितों के मुख से सुना भी है "तारापहारविकलो विकलाप बृहस्पतिः" अर्थात् तारा के अपहरण होने से इस प्रकार बृहस्पति ने विलाप किया है। यह ठीक जान पड़ता है; क्योंकि, लोक में भी स्त्री पुत्रादि के नष्ट होने से लोग विलाप करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं; यदि होता तो हमें इतना दुःख क्यों देता।

७—अपने अपने स्वाभाविक गुणों ही से एकत्र हुए द्रव्यों से संसार उत्पन्न हो जाता है; उसका कर्ता कोई नहीं; यह गौतम बुध के अनुयाई बौद्ध लोगों का मत है। पुनर्जन्म, परलोक और आत्मा चार्वाक नहीं मानते; परन्तु बौद्ध मानते हैं। ये लोग अर्थात् बौद्ध मुक्ति को मानते हैं और जीव के अनादित्व विषय में भी शङ्का नहीं करते। चार्वाक की नाईं केवल प्रत्यक्ष ही को नहीं किन्तु अनुमान को भी ये प्रमाण मानते हैं। यही चार्वाक और बौद्ध मत में अन्तर है। परन्तु यह सब माना तो क्या? जैसे घोर निरीश्वरवादी चार्वाक हैं, वैसे ही बौद्ध भी हैं। ये ईश्वर और वेद को नहीं मानते।

बौद्धों की चार शाखाएं हैं। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। जो कुछ अपनी बुद्धि में सयुक्तिक जान पड़े उसीको मानना और उसीके अनुसार व्यवहार करना बौद्ध लोगों का सिद्धान्त है। "बौद्ध" शब्द का अर्थ भी यही है। चारो प्रकार के बौद्ध सकल भावनाओं की निवृत्ति द्वारा शून्यरूप निर्वाण मानते हैं। इनके मत में संसार क्षणभंगुर और दुःखमय है। इस संसार की क्षणभंगुरत्व और दुःखमयत्वरूपी भावना करके रागादि के नाश होने ही को ये मुक्ति कहते हैं और सब पदार्थों से मन को खींच कर शून्यतत्व का चिन्तन करना मुक्ति का लक्षण बतलाते हैं। संसार को दुःखमय कल्पना करके भी बौद्ध लोग द्वादशायतन पूजा करते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय, मिलकर १० तथा ११वां मन और बारहवीं बुद्धि, यही इनके द्वादशायतन हैं। नाना प्रकार की अर्थोपार्जना करके इनको प्रसन्न रखना, अर्थात् खूब खाना, पीना और मस्त रहना इनकी पूजा हुई। डर क्या है, कर्मजन्य फल का देनेवाला ईश्वर तो मानते ही नहीं, फिर चाहै इन्द्रियों की जितनी सेवा करैं! इधर तो संसार की दुःखमय भावना करते हैं, उधर अपने क्षणभंगुर शरीर के अन्तर्गत क्षुद्र इन्द्रियों को आनन्दित रखना ही श्रेयस्कर मानते हैं, यह क्या आड़म्बर है कुछ समझ में नहीं आता!

८—बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का खंडन मंडन हमारे सनातन धर्म्मावलम्बी आचार्यों ने अनेक स्थल पर किया है, इसलिये इस अवसर पर एतद्विषयक इतनीही चर्चा हम बस समझते हैं। हां, इतना और हमको यहां पर कहदेना चाहिए कि कलकत्तानिवासी बाबू मनोमोहनदत्त, एम० ए०, इस मत को निरीश्वरवादी नहीं बतलाते। एक पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि गौतम बुध अपनेको श्रीकृष्ण की भांति ईश्वर कहता था और आत्मोन्नति के द्वारा अपने समान होकर 'बुध' होजानेही को ईश्वरप्राप्ति अथवा मुक्ति मानता था और इसी प्रकार सबको उपदेश करता था। परन्तु जहां तक हमने देखा है अनेक ग्रन्थकारों ने इस धर्म को निरीश्वरताविधायक ही माना है; इसी लिये हमने भी इसे इस प्रकरण में स्थान देना उचित समझा।

९—जैनधर्म्म बौद्धधर्म्म ही की एक शाखा है। दोनो निरीश्वरवादी हैं। दोनो के सिद्धान्त प्रायः एकही हैं; जहां कहीं भेद है, बहुत सूक्ष्म है। यह ब्रह्माण्ड आदि और अन्त रहित है; इसका बनानेवाला कोई नहीं; न कभी यह उत्पन्न हुआ और न कभी इसका विनाश होगा—यह जैनियों का मत है। इनके मत में रागादिदोषरहित,

सर्वज्ञ, त्रैलोक्यपूजित, यथार्थवादी, इनका अर्हन-देवही परमेश्वर है। ये कहते हैं कि जिस वस्तु को पूर्णतया अथवा उसके किसी एक भाग को कभी किसीने अपने नेत्र से नहीं देखा, उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। इस लिये हमारा सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वस्रष्टा जगदीश्वर जब प्रत्यक्ष नहीं देखा गया, तब उसका अनुमान कैसे किया जा सकता है ? तस्मात् ईश्वर कोई नहीं।

बौद्ध आकाश, काल, जीव और पुद्गल ये चारही द्रव्य मानते हैं, परन्तु जैनलोग धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल ये छ द्रव्य मानते हैं। बौद्धों के समान जैन भी स्याद्वाद और सप्त-भङ्गी मानते हैं। यह सप्तभङ्गी और स्याद्वाद तार्किकों के अकाण्ड तांडव के उपयोग में आते हैं, इस लिये यहां पर हम इनके नामोल्लेख मात्रही से सन्तोष करते हैं। "अहिंसा परमो धर्मः" यह इनके धर्म का मूल तत्व है। ये लोग चेतन और जड़ दो ही पदार्थ मानते हैं और उनके विवेचन को विवेक कहते हैं। रागादि का त्याग और यह जगत् किसी के द्वारा निर्मित है, इस प्रकार के अविवेक का नाश, जैन लोग अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं। ये परम ज्योतिः स्वरूप जीवही की भावना को सर्वोपरि मानते हैं और चेतना विशिष्ट जीव जिसका अंश मात्र है उस सर्व-शक्तिमान् परमात्मा का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं करते !

१०—सांख्य दर्शनके अनुसार यद्यपि कोई पृथक धर्म इस समय नहीं देखा गया, तथापि यह दर्शन निरीश्वरवादी होकर अत्यन्त प्राचीन है और बौद्ध-धर्म इसीके तत्वों का अवलम्बन करके अद्यावधि इस भूगोल के एक तृतीयांश में व्याप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त सांख्य का बीज भारतवर्ष के अनेक संप्रदायों का इस समय भी भित्तिमूलक हो रहा है। इस दर्शन के कर्ता कपिल मुनि हैं।

११—हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय में लिखा है "सांख्या निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वर देवताः", अर्थात् कोई कोई सांख्य मतवाले ईश्वर को मानते हैं और कोई कोई नहीं मानते। परन्तु यह दर्शन विशेषतः निरीश्वर ही के नाम से प्रसिद्ध चला आता है और सांख्य प्रवचन के प्रथमाध्याय का ९२ सूत्र—

ईश्वरासिद्धेः

इसका मूल कारण है। सांख्यकार प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में लिख रहे हैं और कहते हैं कि—

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्।
अ० १ सू० ८९

अर्थात् जिसका सम्बन्ध सत् ( विद्यमान ) पदार्थ से हो और जिससे बुद्धि की वृत्तियों में तदा-कार का ज्ञान हो जाय, उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसमें यह संदेह हुआ कि योगिजनों को जो प्रत्यक्ष होता है वह चक्षुरादि इन्द्रियसंयोगजन्य न होकर भी त्रैकालिक पदार्थों का साक्षात्कार रहता है। इस लिये उपर्युक्त लक्षण प्रत्यक्ष का ठीक न हुआ। इसका समाधान अगले सूत्र में यों है—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः—अ० १ सू० ९०

अर्थात् कहा गया लक्षण बाह्य प्रत्यक्ष का है; परन्तु योगियों का प्रत्यक्ष बाहर नहीं है; आन्तरिक है; अतः वही लक्षण ठीक है। अब यहां पर यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि यदि इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने ही से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तो ईश्वर का ज्ञान होना कदापि संभव नहीं; क्योंकि उसका किसी इन्द्रिय द्वारा सम्बन्ध नहीं होता, और अनुमान भी उसका नहीं कर सकते, क्योंकि अनु-मान तो उसी का हो सकता है जिसका कभी किसी वस्तु के साथ संयोग हुआ हो। इसपर सूत्रकार "ईश्वरासिद्धेः" इस सूत्र में यह कहते हैं कि पहिले ईश्वर ही सिद्ध नहीं, साक्षात्कार किसका हो सकैगा। प्रमाण द्वारा प्रथमतः ईश्वर का होना सिद्ध कीजिए, तदनंतर हमारे प्रत्यक्ष लक्षण को सदोष ठहराइए।

"ईश्वरासिद्धेः" इस सूत्र में कही गई ईश्वर की असिद्धि को दृढ़ करनेके लिये इसका अगला सूत्र सूत्रकार ने यों लिखा है—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः। अ०१ सू०९३

अर्थात् ईश्वर न तो मुक्त ही है और न बद्ध ही है, इससे उसकी सिद्धि प्रमाण द्वारा नहीं हो सकती। यदि मुक्त होता तो सृष्टि रचना के जंजाल में क्यों पड़ता और यदि बद्ध होता तो अविद्या के कारण जगदुत्पत्ति करही न सकता। यदि इन दोनों स्वभावों से पृथक् कोई विलक्षण शक्तिमान् ईश्वर है तो हो सकता है; परन्तु तर्क द्वारा उसका होना प्रमाणित नहीं हो सकता। इस सूत्रके अर्थ को आस्तिक लोग खींच खांच कर अपनी ओर लगाते हैं और कहते हैं कि काकुन्याय से इसका इस प्रकार अर्थ करना चाहिए कि "ईश्वर बद्ध और मुक्त दोनों से भिन्न है, इस कारण क्या उसकी सिद्धि न होगी?" परन्तु जिस प्रसंग में और जिस प्रकार इन दो चार सूत्रों की रचना होती चली आई है, उसके अनुसार यह अर्थ सयुक्तिक नहीं जान पड़ता।

१२—अथवा थोड़ी देरके लिये कल्पना कीजिए कि कपिल जी का यह आशय है कि ईश्वर है अवश्य, परन्तु उसके अस्तित्व को प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं कर सकते। तो क्या इस प्रकार की कल्पना करने से सांख्यकार को ईश्वरवादी कह सकते हैं? हमारी समझ में तो नहीं कह सकते। जो कहता है ईश्वर नहीं है वह भी निरीश्वरवादी है; और जो कहता है कि ईश्वर के होने का कोई प्रमाण नहीं, वह भी निरीश्वरवादी ही है। अतः दो प्रकार के निरीश्वरवादी मानने पड़ते हैं; जिनमें कपिल महाराज को दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत समझना चाहिए।

१३—"अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः" यह सांख्यदर्शन का प्रथम सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ कहते हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक, ये तीन प्रकार के दुःख हैं। इनके समूलोच्छेदन का यत्न प्रतिपादन करके अपवर्ग प्राप्त करने का उपदेश इस दर्शन का सिद्धान्त है।

यदि कोई शंका करे कि यन्त्र, मन्त्र, औषधादि ही से दुःखों की निवृत्ति हो सकती है, सांख्य की युक्तियों का अवलम्बन करके उसके अनुसार उपाय करने की कोई आवश्यकता नहीं, तो यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि, एतादृश उपायों से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति कदापि नहीं हो सकती। एक वार ज्वरांकुश का सेवन करने से ज्वर चला जायगा, परन्तु संभव है कि पुनर्वार उसका आगमन हो। अथवा किसी अभिलषित वस्तु की अपेक्षा से हुआ दुःख उस वस्तु के प्राप्त होने से जाता रहेगा, परन्तु यह कौन कह सकता है कि पुनर्वार फिर किसी अन्य वस्तु के पाने की इच्छा से फिर भी अन्तःकरण को दुःख न पहुंचेगा? भोजन करने अथवा जल पीने से जैसे बुभुक्षा और पिपासा तत्काल के लिये शांत हो जाती हैं, परन्तु कुछ देर में नियमित समय पर फिर लगती हैं, उसी प्रकार यह दुःख एतादृश बाह्योपचारों से अल्प काल के लिये नष्ट हो सकते हैं; परन्तु उनकी परंपरा नहीं छूटती। उनके फिर भी उत्पन्न होने का सर्वदा भय बना ही रहता है।

यदि यह शंका की जावै कि नाना प्रकार के यज्ञानुष्ठान, जप, तप इत्यादि से ही दुःखात्यन्त निवृत्ति हो सकती है, सांख्य का आडम्बर हमको न चाहिए, तो इस प्रकार की भी शंका सयुक्तिक नहीं कही जा सकती; क्योंकि शारदीय देवीपूजन, सत्यनारायण व्रत तथा तत्पूजन, पार्थिवार्चन, और नाना प्रकार के अनुष्ठानादि से जो दुःख निवृत्ति होती है वह सर्वकालिक नहीं। इस प्रकार के उपाय अनेक कारणों से फलप्रद ही नहीं होते और यदि मान भी लें कि होते हैं तो ये दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के करने में कदापि समर्थ नहीं होते। जब तक इन कृत्यों के

द्वारा सञ्चित किया गया पुण्य प्रस्तुत रहता है, तब तक अवश्य शान्ति रहती है; परन्तु पुण्यक्षीण होने से फिर भी पहिलेही के समान दुःख भोग करना पड़ता है। अतएव यह भी साधन कोई अच्छा साधन नहीं।

एक यह भी शङ्का उद्भूत हो सकती है कि ईश्वर ने जो नैसर्गिक नियम बना दिए हैं, उनके प्रतिपालन करने से दुःखोत्पत्ति की संभावना न होगी। नियमों का उल्लंघन करना ही दुःख पाने का मूल कारण है। विचार करने से यह शङ्का भी निःसार जान पड़ती है। प्रथम तो ईश्वरीय नियम ही ऐसे हैं कि सहज ही में उनका उल्लंघन हो सकता है; दूसरे उनके उल्लंघन करने की इच्छा प्राणियों में सदैव जागृत रहती है। इससे यही अनुमान होता है कि सुख की अपेक्षा अधिक दुःख देने ही का ईश्वरीय उद्देश्य है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो मादक पदार्थ, जो इतने अनिष्टकारी हैं, उनके सेवन करने की प्रवृत्ति मनुष्यों में क्यों वह उत्पन्न करता, और फिर उत्पन्न करके भी आपाततः तत्सेवन सुखकर क्यों करता? नियम भी कोई कोई ऐसे हैं कि उनका ज्ञान ही मनुष्यों को नहीं होता। कल्पना कीजिए कि किसी स्थान की वायु दूषित हो रही है; वहां जाने ही से कोई न कोई रोग उत्पन्न होने का डर है। अब यदि हम वहां जावें और किसी रोग से ग्रस्त हो जावें, तो हमारे ऊपर बड़ा भारी बलात्कार समझना चाहिए, क्योंकि नियमोल्लंघन का ज्ञान न देकर तज्जनित दण्ड देना तो किसी प्रकार न्याय्य नहीं। हां, विधि का न जानना लोक में अपराधी के लिये दण्ड से बचने का कारण नहीं कहा जा सकता—यह सत्य है, परन्तु लौकिक अल्पज्ञ न्यायाधीश और सर्वज्ञ परमदयालु ईश्वर की समता नहीं कर सकते। सर्वसाधारण के लिये ऐसे ऐसे नियमों के सहज ही में जानने का साधन सुलभ न करके, निर्दयता से तदुल्लंघन का दण्ड देना समुचित नहीं देख पड़ता। सूक्ष्म विचार करने से इसके अनेक कारण बोध होते हैं; परन्तु विषयान्तर होने के भय से उनका उल्लेख हम यहां पर नहीं करते।

यदि हमने सारे नियमों का यथोचित परिपालन भी किया तो क्या हमें दुःख न मिलैगा? दुःख फिर भी मिलैहीगा। वह नहीं छूट सकता। कल्पना कीजिए कि किसीके परम प्रिय, साधुस्वभाव, और अति विद्वान् एक मात्र पुत्र है। पुत्र की अभिलाषा पूर्ण करने के हेतु, अथवा भविष्यत् में उसका उत्कृष्ट सम्मान होने और उच्च पद प्राप्त करने से अपनेको कृतकृत्य मानने के निमित्त यदि पिता ने उसे सहस्रशः मील दूर विद्याध्ययनार्थ इङ्गलैण्ड प्रस्थान कराया और अभाग्यवश वहां उसे कुछ अनिष्ट हुआ, तो कहिए पिता को यन्त्रणाओं का क्या ठिकाना है? उसको जीवित दशा ही में नरक की यातनाएं भोग करनी पड़ेंगी। कोई नैसर्गिक नियम उसने नहीं उल्लंघन किया, तथापि उसे जो दुःख हुआ उस दुःख से अधिक असह्य और घातक लोक में और कोई दुःख नहीं हो सकता। अब देखिए, नियमों का उल्लंघन किया पुत्र ने, जिससे उसकी मृत्यु हुई; परन्तु दुःख भोग करना पिता को पड़ता है। इस प्रकार के भी दुःख का निवारण एक ऐसे ही दूसरे पुत्र के होने, अथवा कालान्तर में उस घटना को भूल जाने अथवा और किसी अभिलषित वस्तु में मनोनिवेश करने से हो सकता है; परन्तु कौन कह सकता है कि फिर किसी पुत्र अथवा पौत्र के मरने से पुनः पुनः उसी प्रकार का दुःख न भोगना पड़ेगा?

१४—यह हम नहीं कहते कि संसार में दुःख ही दुःख है। सुख भी है; परन्तु वह सुख दुःख से इतना मिश्रित हो गया है कि उसे भी दुःख ही कहना पड़ता है। यही सांख्यकार का अभिप्राय है। यह यथार्थ है। संसार अवश्यमेव दुःख का घर है और इस दुःख का समूल और सर्वदा के लिये नाश करना ही परम पुरुषार्थ है। देह ध्वंस होने से दुःखोच्छेद नहीं होता; क्योंकि सांख्यकार पुनर्जन्म मानते हैं और जन्मपौनःपुन्य के

कारण जरामरणादिज दुःखों की भावना करते हैं, यहां तक कि आत्मा के विश्वकारण में विलग्न होने पर भी दुःख का अत्यन्ताभाव नहीं मानते। वे कहते हैं कि जैसे जल में मग्न होने से पुनरुत्थान होता है—"मग्नवदुत्थानात्"—वैसे ही कारण में लीन होने पर भी आत्मा के पुनर्जन्मादि का संभव बना ही रहता है। अच्छा, तो क्या किया जाय जिस से दुःखपरंपरा का समूलोच्छेद हो जावे? सांख्यकार कहते हैं कि अपवर्ग की प्राप्ति ही इस कार्य के साधन का एक मात्र उपाय है। अपवर्ग कहते किसको हैं?

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः। अ०३ सू०६५।

दोनों, अर्थात् प्रकृति और पुरुष की आपस में उदासीनता हो जाना ही अपवर्ग अर्थात् मुक्ति है। अब प्रकृति और पुरुष क्या है इसका सूक्ष्म परिचय करा देना चाहिए।

१५—हमको इस दुःखमय संसार में नाना प्रकार के दुःख भोग करना पड़ते हैं; परन्तु "हम" कौन हैं? हमारा देह तो "हम" नहीं। सुख दुःख देह को कदापि नहीं होता; जब, जहां और जितना होता है उसी "हम" को होता है। हमारे देह और दैहिक चलन वलनादि शक्ति के अतिरिक्त हमको और कुछ भी दृग्गोचर नहीं होता; तो क्या यह सुख दुःखादि शरीर ही को होते हैं? यदि ऐसा है तो प्राणोत्क्रमण होने के अनन्तर उस देह को सुखादि का अनुभव क्यों नहीं होता? अथवा जीवित दशा ही में किसीके द्वारा अपमानित होने पर देह को कोई विकार नहीं होता; परन्तु अपमानज दुःख अवश्यमेव होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारा देह "हम" नहीं। देह से स्वतन्त्र जो सुख दुःखादि भोग करनेवाला है वही "हम" है। यह "हम" हमारा दृग्गोचर नहीं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि इस जगत् का कुछ भाग इन्द्रियगोचर है और कुछ इन्द्रियगोचर नहीं। चक्षुरादि इन्द्रियों का अगोचर और दुःखादि का भोग करनेवाला "हम" "तुम" इत्यादि शब्दों का वाचक आत्मा है। इस आत्मा को सांख्यकार पुरुष कहते हैं। इस पुरुष के अतिरिक्त और जो कुछ जगत् में देख पड़ता है वह प्रकृति है। इन्हीं दोनों की आपस में उदासीनता होजाना मोक्ष है।

१६—जितना दुःख आत्मा अर्थात् पुरुष को भोग करना पड़ता है सब प्रकृतिजन्य है। बाह्य पदार्थ ही उसका आदि कारण हैं। साधारण श्लेष्मा से लेकर उग्र सन्निपात, उदावर्त, राजयक्ष्मादि रोग, तथा इष्टजन-वियोगज सन्ताप और अन्यकृत अपमान सब प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग होने ही से सहन करना पड़ते हैं। यद्यपि आत्मा प्रकृति से सर्वथैव पृथक् है, तथापि प्रकृति से उसका विलक्षण संसर्ग भी है। स्फटिक और रक्तवर्ण कमल दो पृथक् पदार्थ हैं, परन्तु जब कमल पुष्प स्फटिक के पास रक्खा जाता है, तो वह उसमें प्रतिफलित होकर स्फटिक को भी रक्तवर्ण कर देता है। वास्तव में दोनों पदार्थ एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रखते और परस्पर स्पर्श तक नहीं करते। यही दशा प्रकृति और पुरुष की है। दोनों यद्यपि देशव्यवधान-विहित हैं, तथापि प्रकृति ने पुरुष को इतना रंजित कर रक्खा है, कि वह भी उसीके वर्ण का हो गया है और प्रकृतिजन्य दुःख को पाता है। इस प्रकार का संयोग नित्य नहीं है। जैसे कमल पुष्प को स्फटिक के निकट से हटा लेते ही स्फटिक अपने पूर्व वर्ण को प्राप्त हो जाता है, वैसेही प्रकृति जब पुरुष को नटी के समान अपना नाचकूद बतलाकर अन्तर्हित हो जाती है तब पुरुष पूर्ववत् शुद्धस्वभाव शेष रहजाता है, और फिर उसे सुख दुःखादि की भावना नहीं होती। प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का विच्छेद ही परमपुरुषार्थ है। यह विच्छेद ज्ञानसाध्य है।

१७—मैं कर्ता नहीं; मेरा इस संसार में कुछ नहीं; और मुझमें कोई क्रिया भी नहीं; इस प्रकार की भावना और उसमें निर्भ्रमात्मक विश्वास को ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान सांख्य-

दर्शनान्तर्गत कथित तत्वों का विवेचन और उनका सतताभ्यास करने से उत्पन्न होता है और क्रम क्रम से प्रकृतिजन्य बन्धन को छुड़ा कर आत्मा को अपने सच्चिदानन्दस्वरूप का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है। हम लोगों ने ज्ञान को मुक्ति और अंगरेज़ों ने ज्ञान ही को शक्ति मान रक्खा है। इसी कारण से एक ही पदार्थ को भिन्न भिन्न रीति द्वारा उसका उपयोग करने से भिन्न भिन्न फल दृग्गोचर हो रहा है। ज्ञानार्जन द्वारा संसार को दुःखमय जान हमलोग विरक्त होते हैं; परन्तु अंगरेज़ लोग तदुपार्जन ही से नाना प्रकार के यन्त्रादि रचना करते हैं, नूतन नूतन विज्ञानतत्वों का पता लगा कर नूतन नूतन विद्या और कला कौशल प्रादुर्भूत करते हैं, तथैव हमारे विरक्त देशवासीजनों को विजय करके उनके ऊपर अपनी सत्ता भी पूर्ण रूप से चलाते हैं।

१८—कारणपरम्परा जिसके आगे नहीं जा सकती, ऐसी मूल प्रकृति को सांख्यकार जगत् का आदि कारण मानते हैं और सांसारिक पदार्थों को २५ भेदों में विभक्त करते हैं। ये २५ भेद ये हैं—पुरुष, प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, एकादशेन्द्रिय और पञ्चस्थूलभूत।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश को स्थूलभूत कहते हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन—ये एकादशेन्द्रिय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तन्मात्र कहलाते हैं। "हम" इस प्रकार का ज्ञान अहङ्कार है। महत् मन को कहते हैं। प्रकृति और पुरुष का लक्षण कही चुके हैं।

१९—सांख्यकार आत्मा को शरीर से पृथक् मानते हैं और देहध्वंस होने के अनन्तर भी उसका स्थायित्व प्रतिपादित करते हैं; एवं आत्मा का लोकान्तर में पुनः पुनः शरीर के साथ सम्बन्ध होने से नाना प्रकार के जरामरणादिज दुःख की कल्पना भी सत्य समझते हैं। प्रकृति से विरक्तता सम्पादन करके दुखों का समूलोच्छेद करने को वे परमपुरुषार्थ कहते हैं और उसीको अपवर्ग प्राप्ति का एक मात्र द्वार निश्चित जानते हैं। यही कपिल सूत्रों का सिद्धान्त है।

निरीश्वरताविषयक प्रस्ताव में इस मत की सूक्ष्म समालोचना बस थी; परन्तु यह दर्शन अति प्राचीन और अत्यादरणीय होने के कारण हमने किञ्चित् विस्तार से इसको आलोचना की। यह इसी दर्शन का प्रभाव है कि हम लोगों के हृदय में यह बात भरी हुई है कि यह संसार दुःख का सागर है और इसके पार जाने के लिये प्रयत्न करना हमारा परम धर्म है।

२०—अन्य देश, अर्थात् इङ्गलैण्ड, फ़्रांस, जरमनी, अमेरिका इत्यादि के निरीश्वरवादी अनेक युक्ति प्रयुक्ति द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में शङ्का करते हैं। कोई कहते हैं ईश्वर नहीं; सृष्टि स्वभाव ही से उत्पन्न होती है। कोई कहते हैं ईश्वर हो तो सकता है, परन्तु उसके होने का कोई प्रमाण नहीं। कोई कहते हैं कि जहां चेतनाशक्ति देखी जाती है तहां शरीर सम्बन्ध अवश्य होता है, अत एव चेतनाविशिष्ट ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी साकारता किसी ने नहीं देखी, अथवा प्रमाण द्वारा सिद्ध करके नहीं बतलाई। इन सब मतों का समालोचन बहुत दुरूह है; अतएव इस प्रस्ताव को हम यहीं समाप्त करते हैं।



सर कुमारपुरम् शेषाद्रि आयर ।

# सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २ ] अक्तूबर १९०१ ई० [ संख्या १०

## विविध वार्ता

गत अगस्त मास की २७ तारीख़ को कलकत्ते की साहित्यसभा का वार्षिक अधिवेशन हुआ था, जिसमें बंगाल प्रान्त के लेफ़टनेण्ट गवर्नर श्रीमान सर जान वुडवर्न महोदय ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। श्रीमान ने बंगला भाषा की उन्नति पर प्रसन्न हो कर उसके लेखकों की प्रशंसा की थी ग्रैार साथ ही यह सम्मति दो थी कि जिस प्रकार अब बंगाल में संस्कृत के ग्रन्थ देवनागरी अक्षरों में छपने लग गए हैं, उसी प्रकार यदि बंगला भाषा के लिये वे देवनागरी अक्षरों के ग्रहण करलें ग्रैार उसीमें अपने ग्रन्थ लिखने ग्रैार छपवाने लग जांय, तो वे अपनी भाषा की विस्तार सीमा को बहुत दूर तक शीघ्रही फैलाने में समर्थ हो जांयगे। वास्तव में सर जान वुडवर्न की सम्मति पर बंगाल के लीडरों को ध्यान देना चाहिए। भारतवर्ष में भिन्न भिन्न जातियों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न भाषाओं को होना भी जातीय उन्नति का मूल वाधक है। यदि कोई उपाय ऐसा है कि जिसमें सब भाषाएं मिलकर एक हो जांय, तो वास्तव में समस्त देश एक हो सकता है। इस कार्यसिद्धि का सबसे सुगम उपाय यही है कि पहिले भिन्न भिन्न भाषाएं एकही प्रकार के अक्षरों में लिखी जांय। यह सब लोग मुक्तकण्ठ से स्वीकार करेंगे कि नागरी अक्षरों से बढ़कर सर्वाङ्गसुन्दर ग्रैार पूर्ण अक्षर दूसरे नहीं हैं। अतएव इन्हीं का ग्रहण करना उचित ग्रैार युक्तिसंगत जान पड़ता है। हिन्दी भाषा नागरी अक्षरों में लिखी ही जाती है, मराठी ग्रैार उर्दू भी लिखी जाने लगी है। अब यदि गुजराती ग्रैार बंगला भाषाओं में नागरी अक्षरों का प्रयोग होने लगजाय तो वास्तव में एक बड़ा भारी काम होजाय। क्या बंगदेशीय ग्रैार गुजरातस्थ विद्वान् महानुभाव इन बातों पर विचार कर कुछ देशहित करने की ग्रोर दत्तचित्त होंगे?

* * *

भारतवर्ष में शिक्षित-समाज-मात्र के विदित है कि हमारे वाइसराय शिक्षा की ओर बड़े दत्त-चित्त हो रहे हैं। अभी गत सितम्बर मास में उन्होंने शिक्षा विभाग के बड़े बड़े अफ़सरों की एक सभा की थी, जिसकी बैठक १५ दिन के लगभग हुई थी और जिसमें सभापति का आसन स्वयं श्रीमान् लार्ड कर्ज़न महोदय ने ग्रहण किया था। इस सभा ने क्या निश्चय किया और क्या सम्मति देनी उचित समझी है, यह अभी प्रगट नहीं हुआ है; परन्तु सभा के प्रथम अधिवेशन में श्रीमान् ने एक वक्तृता दी थी जो छपगई है। उसके पढ़ने से यह विदित हो जाता है कि सभा ने किन किन विषयों पर विचार किया है। इन सब विषयों पर विस्तार रूप से हम अगली संख्या में लिखेंगे, पर आज श्रीमान् के एक प्रस्ताव के विषय में कुछ लिखा चाहते हैं।

श्रीमान् ने अपने वक्तृता में देशभाषाओं की शिक्षा के विषय में यों कहा था—

"Ever since the cold breath of Macaulay's rhetoric passed over the field of the Indian languages and Indian text-books, the elementary education of the people in their own tongue has shrivelled and pined. This I think, has been a mistake and I say for two principal reasons. In the first place, the vernaculars are the living languages of this great continent. English is the vehicle of learning and advancement to the small minority. But for the vast bulk it is a foreign tongue which they do not speak and rarely hear. If the vernaculars cnotained no literary models, no classics, I might not be so willing to recommend them. But we all know that in them are enshrined famous treasures of literature and art; while even the secrets of modern knowledge are capable of being communicated thereby in an idiom and in phrases which will be understood by millions of people to whom our English terms and ideas will never be anything but an itelligible jargon."

श्रीमान ने दूसरा कारण यह बताया है कि देश भाषाओं की शिक्षा के प्रचार से सर्वसाधारण में विद्या का प्रचार हो जायगा और इससे बहुत कुछ अशान्ति, पाप और कुत्सित् कर्मों की न्यूनता हो जायगी। श्रीमान् ने हमलोगों की देशभाषा की जो कुछ प्रशंसा की है उसके लिये हम उनके अनुगृहीत हैं; पर वास्तव में देशभाषाओं की क्या अवस्था है, यह जान लेना आवश्यक है। हमारा सम्बन्ध हिन्दी और उर्दू से ही है। इन भाषाओं की क्या अवस्था है और इनमें आजकल कैसे कैसे ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। दोनों भाषाओं में केवल रद्दी उपन्यासों की भरमार है। एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं निकलता जिससे भाषा का गौरव और पढ़नेवालों के चरित्र पर उसका कुछ प्रभाव पड़ कर उनको लाभ हो सके। एलीज़बेथ के समय में अंग्रेज़ी की भी यही अवस्था थी। जैसा आज कल भारतवर्ष में पढ़े लिखे लोग अपनी भाषा से घृणा करते और उसमें ग्रन्थ लिखने में अपना अपमान समझते हैं, वही अवस्था उस समय इङ्गलैण्ड में भी थी। परन्तु उस समय में वहां अच्छे अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद हुए जिससे भाषा की उन्नति हो चली। हिन्दीभाषा में किसी उत्तम ग्रन्थ का नाम पूछा जाय तो लोग तुलसीकृत रामायण बतला देते हैं। अभी ही काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने हिन्दी के तत्वज्ञों से यह प्रश्न किया था कि हिन्दी के गद्य और पद्य की सर्वोत्तम बारह पुस्तकें कौन हैं। पर हमारे पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि, किसी महाशय ने इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया, और हिन्दी के तत्वज्ञों और सुप्रसिद्ध लेखकों ने तो प्रश्न का नाम तक भी न लिया। इसका कारण यह नहीं है कि हिन्दी तत्वज्ञों में गुण दोष विवेचन की शक्ति नहीं है; परन्तु वास्तव में गद्य के ऐसे बारह ग्रन्थों का मिलनाही कठिन है जो लेखप्रणाली में सर्वोत्तम, माननीय और अनुकरणीय हों। जब यह अवस्था है तो हिन्दी में उच्च शिक्षा किस प्रकार से दी जा

सकती है यह समझ में नहीं आता। कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि हिन्दी की समस्त पुस्तकें नित्य की बोल चाल की भाषा में लिखी जांय। हम इस विचार से सहमत नहीं हो सकते। जिस श्रेणी के पाठक के लिये जो ग्रन्थ लिखा जाय, उसकी भाषा वैसी होनी चाहिए। अस्तु यदि गवर्नमेण्ट की यह इच्छा हो कि देशभाषाओं का प्रचार हो और प्रारम्भिक तथा सर्वसाधारण की शिक्षा उसी के द्वारा हो, और यदि देशहितैषी महानुभावों की यह आन्तरिक इच्छा हो कि देशभाषाओं की उन्नति हो, तो ऐसा उद्योग करना चाहिए जिसमें अन्य भाषाओं के अच्छे अच्छे ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद हो जाय। जब तक हिन्दी लेखकों के पास ऐसी पुस्तकें न होंगी, जिनको पढ़कर और जिनके आशय पर वे अनेक बातें जान सकें, और अनेक विद्याओं के विषय में अनुभव प्राप्त कर सकें, तब तक सम्भव नहीं है कि वे अन्य अच्छे ग्रन्थों के लिखने में समर्थ हो सकेंगे। अतएव हमारी गवर्नमेंण्ट से प्रार्थना है कि वह उपयुक्त पुरुषों द्वारा अन्य भाषा के अच्छे अच्छे ग्रन्थों का हिन्दी आदि देश भाषाओं में अनुवाद करावें जिसमें ये भाषाएं इस योग्य हो सकें कि उनके द्वारा उच्च शिक्षा तक दी जा सके।

***

हिन्दी के रसिकों को नागरीप्रचारिणी सभा का ध्यान कराना, अथवा उनके सम्मुख उसका वृत्तान्त उपस्थित करना, व्यर्थ है। परन्तु हमें यह देखकर दुःख होता है कि सभा का अब तक कोई भवन नहीं बना है जिससे सभा के अधिवेशनों में विशेष कष्ट होता है। इसके अतिरिक्त अवैतनिक कार्य शृङ्खला से नहीं होता। इन बातों पर विचार कर सभा ने एक स्थायी कोष का स्थापित करना निश्चित किया है और हिन्दी रसिकमात्र से आवेदन किया है कि वे इसमें सभा की सहायता करें। परन्तु हमें दुःख है कि इस ओर अब तक बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया है। इस बात को सब लोग मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि सभा ने हिन्दी की बहुत कुछ सेवा की है, और आशा है कि भविष्यत् में भी यह हिन्दी का उपकार कर सके। इस अवस्था में हम यह नहीं समझते कि हिन्दीप्रेमीगण सभा की सहायता क्यों नहीं करते। हम अपने पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि यदि वे एक एक रुपया भी स्थायी-कोष की सहायता में हमारे अथवा सभा के पास भेज दें, तो वे वास्तव में हिन्दी की बड़ी भारी सेवा करेंगे। हमको आशा है कि हमारे सहयोगी-गण भी उस ओर ध्यान दे अपने पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे सभा की सहायता करें।

***

अन्यत्र मैसूर के भूत दीवान सर कुमारपुरम् शेषाद्रि आयर का चित्र दिया है। राजा सर टी माधवराव, राजा दिनकर राव, आदि भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजनैतिकों की गणना में सर आयर का नाम कदापि नहीं छूट सकता। गत सितम्बर मास के प्रारम्भ से सर आयर के रुग्न होने का वृत्तान्त समाचारपत्रों में छपने लगा था और चारों ओर लोग इनकी अवस्था जानने के लिये उत्सुक थे। परन्तु रोग बढ़ता ही गया और १३ सितम्बर के प्रातःकाल इस असार संसार को छोड़ कर वे परलोक को सिधारे और अपनी अक्षय कीर्ति को छोड़ गए जो प्रत्येक पुरुष के भाग्य में नहीं होती। इनकी मृत्यु पर समस्त मैसूर पर महाशोक छा गया और कई दिनों तक जहां चार आदमी मिलते तो वे इन्होंकी मृत्यु की चर्चा करते थे।

***

आयर महाशय का जन्म सन् १८४५ ई० को हुआ था। पढ़ने में इन्होंने अच्छी दक्षता प्राप्त की और २१ वर्ष की अवस्था में बी. ए. हो गए। कालेज में सदा इनकी गणना अच्छे बालकों में होती थी। पहिले तो ये कालिकट के कलक्टर के आफ़िस में अनुवादक के पद पर नियुक्त हुए। सन् १८६८ में ये मैसूर में जुडिशल शिरिस्तेदार

नियत हुए। इसके पीछे इन्होंने अनेक दिनों तक अनेक पदों पर नियुक्त होकर काम किया। सन् १८८३ ई० में ये मैसूर के दीवान नियत हुए और इस पद पर रह कर इन्होंने जो मैसूर राज्य का उपकार किया है, उसे सब लोग मानते और स्वीकार करते हैं। जिस समय ये दीवान नियत हुए थे, उस समय राज्य की वार्षिक आय एक करोड़ तीन लाख थी, और जब उन्होंने दीवानी छोड़ी तो वह एक करोड़ अस्सी लाख थी। सन् १८८१ ई० में राज्य को ३० लाख का देना था। इसको इन्होंने सब चुका दिया और अन्त में एक करोड़ छिहत्तर लाख की बचत दिखाई, और इसके साथही साथ करोड़ों रुपए उन्होंने देशहितकर कार्य्यों में व्यय किए। इन्हीं सब उपकारों को स्मरण करके महाराज मैसूर ने चार लाख पुरस्कार और दो हज़ार मासिक की पेनशन कर दी थी। इन महानुभाव की मृत्यु से मैसूर राज्य ने एक बड़ा भारी सहायक और भारतवर्ष के एक सुन्दर रत्न खोया है।

## श्री गुरु नानक जी

भारतवर्ष की इस अधोपतित अवस्था में यह बात अत्यन्त ही आवश्यक जान पड़ती है कि हम अपने पूर्व पुरुषाओं के चरित्र से भली प्रकार बिज्ञ होकर स्वदेश की उन्नति पर ध्यान दें और आंख खोलकर देखें कि हमारे पूर्वजों ने कैसी कैसी कठिनाईयां सह कर स्वदेश को अधोपतित होने से बचाया था। और कई तो स्वयं धर्म्मोपदेश द्वारा मुसलमान शासनकर्त्ताओं और हिन्दुओं में ऐक्य फैला कर, तथा पददलित हिन्दू प्रजा को मुसलमान बादशाहों के अन्याय से बचा कर, इस असार संसार में अटल कीर्तिस्तम्भ स्थापित कर गए हैं।

ये महात्मा, जिनके चित्र अन्यत्र एक साथ दिए गए हैं, और जिनके नाम इस प्रकार हैं—गुरु नानक जी, गुरु अङ्गद जी, गुरु अमरदास जी, गुरु रामदास जो, गुरु अर्जुन जो, गुरु हरगोबिन्द जी, गुरु हरराय जी, गुरु श्री हरिकृष्ण जी, गुरु तेगबहादुर, तथा दसवें और अन्तिम गुरु गोबिन्दसिंह जी, इत्यादि—ऐसे प्रतिभासम्पन्न हो गए हैं कि जिनके धर्म्मोपदेशों से राज्य मद में अन्धे, अन्यायी यवन बादशाहों के भी हृदयकपाट खुल गए थे, तथा वे लोग पक्षपात-शून्य होकर इनके सिद्धान्तों को मानने लग गए थे, और इस उपाय से दुर्बल पददलित हिन्दूजातियों की रक्षा कर, ये महात्मागण अनन्त यश के भागी हो, इस नाशवान जगत में अमरत्व प्राप्त कर गए है।

आज मैं आप लोगों के सम्मुख उनमें से एक ऐसे महात्मा पुरुष का चरित्र वर्णन करता हूं जो भारतवर्ष में मुसलमानी शासन के समय आविर्भूत हुए थे, और जिनके सारगर्भित उपदेशों ने हिन्दू मुसलमान दोनों जातियों को चकित और पुलकित किया था; और जो परस्पर दोनो जातियों में एकता का बीज बोकर, हिन्दुओं के प्रति यवन बादशाहों के प्रचण्ड अग्निरूप अत्याचार को अपने शीतल, गम्भीर, वारिरुपी धर्म्मोपदेश से शान्त कर, हिन्दू जाति मात्र के श्रद्धास्पद हो गए हैं और जिनका नाम सभ्य जगत के अन्तिम समय तक संसार में अटल भाव से विराजमान रहेगा।

सिख धर्म्म के जन्मदाता, यवन बादशाहों को मुरीद बनानेवाले, तथा हिन्दुओं को मुसलमान शासनकर्ताओं के अत्याचार से छुड़ानेवाले महात्मा गुरु नानक जी का नाम कौन नहीं जानता? ये परमात्मा की ओर से निष्पीड़ित हिन्दु जातियों को मुसलमानों के अत्याचार से बचाने के लिये इस मर्त्तलोक में भेजे गए थे, और इन्होंने संसार में आकर अपने कर्त्तव्य का साधन उत्तमत्ता पूर्वक किया, अर्थात् मुसलमानों को अपने युक्तिपूर्ण सुललित धर्म्मोपदेश द्वारा हिन्दुओं पर अत्याचार करने से विरत रक्खा और एक ऐसे मत की नीव डाली जिसने केवल हिन्दुओं पर ही नहीं, पर मुसलमानों पर भी विशेष प्रभाव डाला।

क्या ऐसे परोपकारी महात्माओं का जीवन चरित्र पढ़कर हमें उनके गुणों से परिचित होना उचित नहीं है जिससे कि हम उनको अपना आदर्श मानकर स्वदेश तथा स्वजाति को कुछ भी भलाई कर सकें? अतएव, पाठकगण, आइए, हम लोग भी बाबा गुरु नानक जी के परोपकार और स्वकर्त्तव्यसाधन के वृत्तान्त की चर्चा कर अपने उत्सुक चित्तों को शान्ति दें।

गुरु नानक जी के पूर्वजों की वंशावली का सिलसिला सूर्यवंशी श्री रामचन्द्र जी के पुत्र कुश से मिलता है। इसका सविस्तर वर्णन स्वयं गुरु गोविन्दसिंह जी ने अपने 'विचित्र' नामक नाटक में लिखा है। सूर्यवंशी श्री रामचन्द्र जी के दो पुत्र हुए, लव और कुश। कुश ने कसुर और लव ने लाहौर बसाया। इनके कई पीढ़ी पीछे कुश के वंश में कालराय और लव के वंश में कालकेतु नामक दो पराक्रमी राजा हुए जो अनेक समय तक परस्पर युद्ध करते रहे। निदान कालकेतु की जय हुई और कालराय सन्नोड देश की ओर भाग गया, जहां वह एक राजकन्या से विवाह कर रहने लगा। इसी स्त्री से सोढीराय नामक एक पुत्र कालराय को उत्पन्न हुआ, जिसके वंशज सोढी खत्री के नाम से विख्यात हैं। सोढी राय से पांचवीं पीढ़ी में विजयराय नामी एक महाबली राजा हुआ, जिसने पञ्जाब में कुश के वंशजों पर चढ़ाई कर उन्हें युद्ध में परास्त किया।

महाभारत के प्रसिद्ध युद्ध में एक बेदी वंशीय* अभौज नामक राजा ने (जो सूर्यवंशी था) राजा शल्य की आधीनी में पांडवों से युद्ध किया था।

समय के फेर से इसके उत्तराधिकारियों के हाथ से राज्य जाता रहा और जो बचे बचाए कतिपय ग्राम थे, वह भी नाथजी बेदी के समय महमूद गज़नवी के हमलों में दूसरों के हस्तगत हुए।

बेदी वंश में एक रामनारायण खत्री हुए, जिनके पुत्र शिवरामदास के दो पुत्र, कालूचन्द संवत् १४९३ विक्रमी में, तथा लालूचन्द संवत् १५०० में उत्पन्न हुए। कालूचन्दराय बुलार हाकिम तिलवंडी का अधीनस्थ कार्यकर्त्ता था। सुलतान बहलोल लोदी के समय में कार्तिक सुदी पूर्णिमा संवत् १५२६ विक्रमी (सन् १४६९ ई०), को चार घड़ी रात रहे हमारे प्रसिद्ध महात्मा श्री गुरु नानक जी ने माता के गर्भ से कालूचन्द खत्री के घर में तिलवण्डी नामक ग्राम में, जिसकी तहसील शरकपूर, जिला लाहौर में है, जन्म लिया था।

पुत्ररत्न के उत्पन्न होने का शुभ समाचार सुन कर कालूचन्द ने आनन्दित होकर, याचकों को मुंह मांगा द्रव्य दान किया और हरदयाल ज्योतिषी को बुलाकर पुत्र की जन्मपत्री बनाने का आदेश किया। ज्योतिषी जी ने गणना कर कहा कि यह पुत्र बड़ा यशस्वी, धर्मिष्ठ, तथा प्रभावशाली होगा, और इसकी कीर्ति संसार में प्रलय पर्य्यन्त व्याप्त रहेगी। पुत्र का भावी भाग्य सुनकर नानक जी के पिता फुले अङ्ग न समाए, और उन्होंने पण्डितजी को यथोचित दक्षिणा देकर विदा किया।

किसी किसी इतिहासवेत्ताओं का मत है कि नानक जी ने अपने नाना के घर जन्म लिया, इसी कारण उनका नाम नानक पड़ा; और कोई कोई यह भी कहते हैं कि नानक जी की बड़ी बहिन का नाम नानकी था, इसलिये इनका नाम भी नानक रखा गया। परन्तु इस विवरण का सत्यासत्य स्पष्ट रूप से कुछ निर्णय नहीं हुआ है।

गुरु नानक के जन्मस्थान में एक पक्का मकान 'ननकाना साहब' के नाम से बना हुआ अब तक

* जिस समय विजयराय ने पञ्जाब में कुश के वंशजों पर चढ़ाई कर उन्हें युद्ध में परास्त किया, उस समय कुश के वंशधरों में से कुछ लोग पूर्व की ओर गए। अवध और कानपूर के ठाकुर जाति इनके वंशजों में से हैं और कुछ लोग काशी जी में विरक्त होकर वेद पढ़ने लगे। वे बेदी खत्री के नाम से विख्यात हुए।

वर्त्तमान है। इस स्थान पर नानक जी के स्मारक स्वरूप एक मेला प्रतिवर्ष लगा करता है, जिसमें लोग दूर दूर से आते हैं।

एक ही वर्ष की अवस्था में हमारे चरित्र के नायक खड़े भी होने लग गए और उनके दांत भी निकल आए। कहावत प्रसिद्ध है कि "होनहार बिरवान के होत चीकने पात"। और जब कभी यह बैठते थे तो पैर मोड़ कर बैठते थे और कुछ न कुछ भजन की रीति पर अवश्य बोलते रहते थे। जब पांच वर्ष की अवस्था हुई तो सहचारी बालकों को ईश्वर के विषय में उत्तम उत्तम उपदेश देने लगे और जो कुछ द्रव्य घर से हाथ लगता, याचकों और फकीरों को बांट दिया करते। संवत् १५३३ में सात वर्ष की जब इनकी अवस्था थी, तब इनके पिता ने इन्हें हिन्दी पढ़ने के लिये पाठशाला में भेजा। गुरु जी ने इन्हें प्रथम हिन्दी का पहाड़ा लिख कर पाठ याद करने को दिया। ऐसा सुनने में आता है कि आपने इस पर गुरु जी से कहा कि "जिसने इस लैाकिक हिसाब किताब को पढ़ा वह अत्यन्त कष्ट और कठिनाइयों में फंसा रहा है; मैं तो परमेश्वर की स्तुति पढ़ने आया हूं और मेरी राय यह है कि आप भी इस पचड़े को छोड़ कर सच्ची विद्या का अध्ययन करना प्रारम्भ कीजिए।" संवत् १५३५ में कालूचन्द ने इन्हें संस्कृत पढ़ने के लिये पं० ब्रजनाथ के समीप भेजा। पण्डित जी ने "ओंकार" का "अकार" लिख कर पाठ करने को दिया। आपने पण्डित जी से इसका अर्थ पूछा। तब तो पण्डित जी चकराए और कुछ क्षण तक नानक जी की ओर स्थिरदृष्टि से देखकर कहने लगे कि "बालकों को आदि में इसका अर्थ नहीं बताया जाता। तुम यदि स्वयं जानते हो तो कहो"। फिर तो हमारे स्वाभाविक ज्ञानी महात्मा ने इस ओंकार की ऐसी सारगर्भित और सरल व्याख्या की कि पण्डित जी दङ्ग रह गए और उनके ज्ञानचक्षु खुल गए।

कई इतिहासवेत्ताओं का मत है कि नानक जी का प्रथम शिक्षक मुसलमान था। विख्यात इतिहासज्ञ एलफिन्स्टन (Elphinstone) साहब कहते हैं कि "He was a disciple of Kabir"*= वह कबीरदास के शिष्य थे। किन्तु शायर-उल-मुताख़रीन (पारसियों का इतिहास,) के प्रणेता कहते हैं कि सैयद हुसैन नामक एक विभव शाली मुसलमान ही नानक जी का शिक्षा-गुरु था। ऐतिहासिक कनिङ्गहम साहब कहते हैं कि "A manuscript compilation in Persian mentions that Nanak's first teacher was a Mohametan. Nanak is reported by the Mohametans to have learnt all earthly sciences from Khizzer, *i. e.*, the prophet Elias." नानक जी फारसी जानते थे, आश्चर्य नहीं कि उन्होंने इस भाषा को किसी मुसलमान से सीखा हो; परन्तु इनके प्रथम शिक्षक मुसलमान थे, या वह मुसलमान द्वारा शिक्षित हुए थे, यह बात सर्वथा असत्य जान पड़ती है; क्योंकि नितान्त बाल्यावस्था में ही उन्होंने वह ज्ञान की बातें कही हैं, कि उनका किसी गुरुविशेष द्वारा शिक्षित होना प्रमाणित नहीं होता।

बाल्यावस्था ही से गुरु नानक जी का एक ईश्वर में दृढ़ विश्वास था। उनका यह सिद्धान्त था कि सृष्टि के आदि में केवल मूल एक ही धर्म था; पीछे मनुष्यों की कुटिलता तथा स्वार्थपरता से भिन्न भिन्न धर्म्मों का प्रचार हो गया। सब धर्म्मों का मूल एक ही है। इसी कारण नानक जी हिन्दू, मुसलमान, सब धर्म्मों को समान दृष्टि से देखते और सभी जाति के मनुष्यों को धर्म्मोपदेश देते थे। परन्तु इस समय सिख धर्म को देखकर लोग यह नहीं विश्वास कर बैठें कि इसमें जो भिन्न भिन्न प्रकार के पन्थ हैं, वे नानक जी ही के चलाए हुए हैं। गुरु नानक जी तो एक दृढ़ ईश्वरवादी थे और इस सिद्धान्त का प्रचार भी करते थे; परन्तु उनके पीछे भिन्न भिन्न

* Vide Elphinstone's History of India.

प्रकार के पन्थ चल गए, और यह बात स्वाभाविक है कि समय पाकर किसी प्रधान नेता के सिद्धान्तों में अनेक अन्य बातें सम्मिलित हो जाया करती हैं। सिख धर्म्म में भी यही बात जान पड़ती है।

गुरु नानक की बाल्यावस्था के विषय में अनेक विचित्र बातें प्रसिद्ध हैं। परन्तु वे अधिकांश में तो कपोलकल्पित जान पड़ती हैं, क्योंकि अपने प्रतिभाबल से संसार में जो पुरुष सबका पूज्य और मान्य हो जाते हैं, उसकी बाल्यावस्था के विषय में इस प्रकार की बहुत सी कथाएं प्रायः सुनी जाती हैं; तो हमारे अद्भुत क्षमताशाली, प्रतिभासम्पन्न, गुरु नानक जी के विषय में ऐसी ऐसी बातों का सुनना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नानक जी योगीराज थे और जो कुछ योगबल की प्रभुता उन्होंने दिखाई भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु जितना की ऐतिहासिक लोगों ने बढ़ा रखा है वह कदापि सम्भव नहीं है। उपर्युक्त बातों को ध्यान पूर्वक पढ़नेही से पाठकों को इसका सत्यासत्य स्वयं ही स्पष्ट होजायगा।

जिस समय नानक जी की अवस्था पन्द्रह वर्ष की थी, तो उनके पिता ने उनका ध्यान सांसारिक कार्य्यों की ओर आकर्षित करने के लिये बाला नामक नौकर के साथ नोन (लवण) खरीदने को उन्हें कुछ द्रव्य देकर भेजा और पुत्र से कह दिया "देखो खूब खरा और अच्छा सौदा खरीदना"। परन्तु हमारे ज्ञानी महात्मा इन सब सांसारिक पचड़ों में कब फंसने वाले थे। उन्होंने चिड़काना नामक ग्राम में पहुंच कर देखा कि बहुत अभ्यागतों तथा अतिथियों की मण्डली अन्न बिना भूखी पड़ी है। "इन्हें भोजन द्वारा तृप्त करने के अतिरिक्त मुझे और कोई खरा और लाभकारी सौदा नहीं दिखाई देता।" नानक जी ने ऐसा सोचा और तत्क्षण भोजन की सामग्री मंगवा उन अतिथियों को भोजन करादिया, तथा खाली हाथ पिता के सम्मुख आ खड़े हुए। सब हाल कालूचन्द को मालूम होने पर वह अपने पुत्र नानक पर बड़े ही क्रुद्ध हुए और उनका यथोचित तिरस्कार किया; किन्तु महात्मा नानक जी ने इसकी कुछ भी परवाह न की।

नानक जी के चित्त में जब धर्म्मचिन्ता उदय होती तब वह बस्ती छोड़ कर निर्ज्जन बनों में चले जाते। पिता को उनके बहुत काल तक बाहर रहने से बड़ा दुःख होता, और कई बार तो वे पुत्र के खोजने से हताश होकर उसके जीवन तक से निराश हो चुके थे। इन्हीं सब कारणों से, तथा पुत्र को संसार के कार्य में फंसाकर अपना अनुयायी बनाने के लिये, उन्होंने सं० १५४१ में नानक जी को सुलतानपुर उनके बहनोई जयराम के पास भेज दिया, जहां उनके बहनोई ने उन्हें नवाब दौलत अली खां के यहां मोदीख़ाने में नोकर करा दिया; और सं० १५४५ में ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को मूलचन्द चूना की पुत्री सुलक्ष्मी से इनका बिवाह भी हो गया। सं० १५५१ सावन बदी पंचमी को नानक जी की धर्म्मपत्नी से एक लड़का भी, जिसका नाम श्री चन्द्र था, उत्पन्न हुआ, जिसने उदासी पन्थ चलाया। कुछ दिनों के अनन्तर नानक जी ने दूसरे पुत्र का भी मुख देखा। यह समाचार सुनकर नानक जी के पिता अत्यन्त हर्षित हुए और मन में कहने लगे कि "लड़का अब राह पर आता जाता है"। परन्तु गुरु नानक जी संसार में जल के कमल सदृश अपना समय बिताते थे, तथा जब कभी अवकाश मिलता तो लोगों को धर्म्मोपदेश दिया करते। इस तुच्छ परिवर्तन से नानक जी की धर्म्मचिन्ता में तनिक भी व्याघात न पड़ा; वे सदा अपने धर्म्म कर्तव्य में यत्न किया करते और लोगों को ईश्वर के विषय में उत्तमोत्तम उपदेश दिया ही करते थे।

एक समय नवाब दौलत अली खां से काज़ियों ने शिकायत की कि नानक जी यदि एक ही सच्चे मत को मानते हैं, और किसी मत से द्वेष नहीं रखते, तो वह हमलोगों के साथ मसजिद में निमाज़ शरीफ पढ़ें। हमारे समदर्शी महात्मा नानक जी

उसी क्षण सङ्कोचरहित होकर निमाज़ पढ़ने पर प्रस्तुत हुए और काज़ियों को लज्जित होना पड़ा।

सं० १५५६ में नानक जी देश विदेश में उपदेश देने की इच्छा से फ़कीरी भेष धारण कर मरदाना नामक अनुचर के सहित घर से बाहर निकले। उन्होंने पत्नी के कातर विलाप और घर के लोगों के बार बार अनुरोधों का कुछ भी ध्यान न किया। जो व्यक्ति इस संसार में दृढ़ता के साथ स्वकर्तव्य साधन में तत्पर हो जाता है, उसको ऐसी ऐसी सांसारिक बाधाएं नहीं रोक सकतीं। पञ्जाब के कुछ स्थानों में उपदेश देकर मार्ग में पश्चिमोत्तर देश, अवध, काशी, पटना, बंगाल, विहार होते हुए कामरूप कामाक्षा में पहुंच गए। तदनन्तर आसाम आदि देशों में भ्रमण करते हुए, तथा जगन्नाथ जी में उपदेश देते हुए, लौट कर ताल भूपाल, थानेश्वर आदि देशों में होते हुए अपने घर सुलतानपुर को लौट आए।

संवत् १५६७ में बाला और मरदाना दो सहचरों के साथ दक्षिण भ्रमण के लिये दूसरी बेर घर से निकले, तथा अजमेर में जैनियों को उपदेश देते हुए घर को लौट आए। इनकी तीसरी यात्रा कर्तारपुर के पहाड़ों में हुई थी।

उनकी चौथी यात्रा हिन्दू सन्तान के लिये विचित्र कहलाने योग्य है। इस बेर उन्होंने अपने मुख्य कर्तव्य साधन के लिये मुसलमानों को उपदेश करते हुए मक्के ऐसे दूरदेश में जाने का दृढ़ सङ्कल्प किया और इस हेतु भाई मरदाना और बाला को साथ लेकर उस देश की यात्रा की, तथा गुजरात इत्यादि देशों में उपदेश करते हुए सं० १५७५ में मक्के पहुंच ही गए।

नानक जी थकावट के कारण विख्यात मसजिद की ओर पैर कर के सो रहे; किसी मुसलमान ने बाहर आकर देखा कि एक फ़कीर जिसकी आकृति हिन्दू सी जान पड़ती थी, दरगाह की ओर पैर कर के सोया है। वह अत्यन्त ही कुपित हुआ और गुरु नानक को सोते से जगाकर उनको ऐसा निन्दनीय कार्य करने पर बहुत कुछ भला बुरा कहने लगा। नानक इसको बातें चुपचाप सुनते रहे और अन्त में कहने लगे कि मैं जिधर पैर करता हूं उधर ही खुदा की दरगाह पाता हूं, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापी है और समस्त ब्रह्माण्ड ही उसका मन्दिर (दरगाह) है। इस घटना के विषय में ऐसा भी लोग कहते हैं कि गुरु नानक ने जिधर अपना पैर घुमाया उधर ही मक्का भी घूम गया। यह बात निरी असत्य नहीं हो सकती है, क्योंकि नानक जी योगी थे और योगबल से यदि लोगों की दृष्टि में उन्होंने भ्रम उत्पन्न कर दिया हो तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। इसपर काज़ी ने पूछा कि आप हिन्दू हैं या मुसलमान? गुरु नानक ने एक दोहा पढ़ा–

> हिन्दू कहों तो मारिए, मुसलमान भी नाहिं।
> पांच तत्व का पूतला, नानक मेरा नाम॥

इसके अनन्तर उन्होंने यह भी समझाया कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के शरीर एक ही रक्त मांस से बने हुए हैं और एक ही ईश्वर ने इन्हें उत्पन्न किया है और दोनों में एक ही शक्ति और आत्मा दी है, किसी जाति पर किसी जाति को उच्चासन नहीं दिया है, और न किसी मनुष्य या जाति विशेष को किसी पर अत्याचार ही करने वा पददलित करने का अधिकार दिया है।

मक्के से गुरु नानक मदीने की ओर गए और वहां भी अपने सुललित उपदेशों द्वारा उन्होंने मुसलमानों को मोह लिया। इसी प्रकार यवनों के प्रधान तीर्थस्थानों में उपदेश देते हुए, मक्के से चल कर ईरान, फ़ारस, रूम; आदि देशों में होते हुए बुग़दाद पहुंचे, वहां का ख़लीफा इनके प्रभाव का वृत्तान्त पहिले ही सुन चुका था, अतएव वह अगवानी कर बड़े आदर भाव से इन्हें अपने शाही महलों में लिवा लेगया, तथा इनके दर्शन पाकर अपनेको कृतकृत्य समझने लगा, और नानक जी का उपदेश सुन कर अत्यन्त प्रसन्न और मुग्ध हुआ



सिख धर्म्म के दस गुरुओं की मण्डली ।

तथा उसने उनका विशेष आदर किया, और एक बहुमूल्य चोला (एक प्रकार का कुर्ता) जिस पर कुरान शरीफ़ की आयतें बिनी हुई थीं, इनके भेट किया जिसे वे अपने साथ लेते आए। यह चोला अभी तक पञ्जाब में काबुलासिंह बन्दई के पास रखा हुआ है और प्रति वर्ष इसका दर्शन और पूजन होता है। बुगदाद में गुरु नानक जी का स्मारक अभी तक वर्तमान है और वहांवाले इन्हें नानक पीर के नाम से पुकारते हैं।

इसके अनन्तर नानक जी रूम तथा ईरान होते हुए बुख़ारे पहुंचे जहां उनके सहचर मरदाना की मृत्यु हुई। यह सहचर नानक जी को विशेष प्रिय था और वे जो जो भजन रचते उसे वह वीणा में बराबर बजाया करता। संवत् १५७९ में नानक जी कर्तारपुर जा पहुंचे और उनके जीवन का शेष भाग ऐरावती नदी के तीर कर्तारपुर में ही पूरा हुआ।

यह गुरु नानक ही ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ और निर्भय-चित्त वाले पुरुष का साहस था कि उन्होंने किसी प्रकार का भय तथा संकोच न कर हिन्दूद्वेषी यवनों के प्रधान तीर्थस्थान मक्के में जाकर अपने पवित्र धर्म्मोपदेश द्वारा मुसलमानों के हृदय से हिन्दुओं की ओर घृणावृक्ष का जड़मूल से नाश किया।

नानक जी जब घर लौट कर आए उस समय उनके आत्मीय बन्धुगणों ने उनसे घर ही पर रहने के लिये आग्रह किया। नाना देश विदेश भ्रमण कर, तथा नाना प्रकार के मनुष्यों से मिलने जुलने से नानक जी के हृदय में बस्ती में रहने से जो वैराग्य हो आया था, वह जाता रहा और वे अपने घर कर्तापुर ही में रहने लगे।

अपने घर के निकट नानक जी ने एक अतिथि-शाला बनाई, जिसमें भिक्षुक अतिथिगण नित्य भोजन पाते थे। यह अतिथिशाला कर्तापुर में अभीलों वर्तमान है और वहांवाले इसे "डेरा बाबा नानक" के नाम से पुकारते हैं।

नानक जी ने सिखों को कोई सामाजिक या राजनैतिक उपदेश नहीं दिया था। उनका उपदेश बहुधा धर्म्मविषयों पर ही हुआ करता था; सिख लोगों के आचार, व्यवहार में उन्होंने कुछ भी परिवर्तन नहीं किया था। नानक जी के शिष्य उन्हें ईश्वरतुल्य मानते थे, परन्तु नानक जी सम्पूर्ण अहङ्कार रहित थे, क्योंकि उन्होंने एक भजन में, जिसका पद यों है, रचकर कहा है कि

"तु है निरङ्कार, नानक बन्दा तेरा"।

इसी प्रकार से नानक जी भगवत भजन रचना करते, तथा लोगों को अपने ललित धर्म्मोप-देश द्वारा मुग्ध करते हुए, अपने जीवन का शेष-भाग ऐरावती नदी के तीर पर कर्तारपुर में बिताने लगे, जहां कुछ काल के अनन्तर लहना नामक एक खत्री से, जो वैष्णवदेवी दर्शनार्थ जा रहा था, इनसे भेट हुई। इनके पवित्र धर्म्मोपदेश को सुनकर लहना ऐसा मोहित हो गया कि वह वैष्णवदेवी न जाकर इन्हींके सन्निकट रहने लगा, तथा इनपर विशेष श्रद्धा, भक्ति रखने लगा। नानक जी ने उसे अपना दीक्षित शिष्य बनाकर और उसका नाम "गुरु अङ्गद" रखकर उसे गुरु की गद्दी दी, क्योंकि कई वार की परीक्षा से यह शिष्य गुरु नानक जी के पुत्रों से भी अधिक गुण-वान ठहरा था।

संवत् १५९०, कार्तिक बदी १३ को, नानक जी की माता का देहान्त हो गया, तथा इसके बीस दिन बाद ही नानक जी के पिता भी परलोक को सिधारे।

यह संसार अनित्य है। यहां जो आया वह अवश्य एक दिन जायगा। हमारे चरित्रवीर महात्मा भी अपने सच्चे और पवित्र सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए, तथा मरण समय पर्यन्त लोगों को धर्म्मोपदेश देते हुए ६९ वर्ष १० महीने की आयु भोग कर संवत् १५९६, आश्विन बदी १० को, इस देह को त्यागकर परम धाम को सिधारे। केवल

उनका नाम और उनकी कीर्ति जगत में गुलाब के फूल की नाई अब तक सुगन्ध फैला रही है।

इन महात्मा का मरण समय भी विचित्र था। इनकी अन्त्येष्टि क्रिया के विषय में हिन्दू मुसलमानों में बड़ा झगड़ा हुआ। एक कहावत प्रसिद्ध है कि "गुरु नानक हिन्दू का गुरु और मुसलमानों का पीर था"। अतएव हिन्दुओं ने इनके शव को जलाना और मुसलमानों ने कबर में गाड़ना चाहा। शेष में शव किसीको भी न मिला और उनके ऊपर जो चद्दर पड़ी थी, लाचार होकर दोनों ने आधी आधी बांट ली, जिसको हिन्दुओं ने जलाया और मुसलमानों ने अपनी रीति के अनुसार गाड़ दिया। सम्भवतः ऐसा मालूम होता है, शव के बारे में झगड़ा होने की सम्भावना किसी चतुर पुरुष ने समझकर पहिलेही से उसे यथोचित जगह पहुंचा दिया जिसका किसीको पता भी न लगा कि किस दलवालों में से किसने ऐसा किया।

---

## "कवि" और "काव्य"

उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा को धन्य है, कि जिसने मनुष्यजाति के लिये कैसे कैसे सुख साधन वितरित कर दिए हैं; जिनमें सर्वोपरि साहित्य और सङ्गीत जैसे अलौकिक आनन्दकारक विषय के निर्माण की ओर देखते हैं, तब उस कृपानिधि की मर्यादातीत कृपा का यह भी एक अपूर्व उदाहरण मिलता है।

अहा! पूर्णानुभवी महाराजा भर्तृहरि ने क्या ही यथार्थ कहा है—

"साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"
नीति शतक—श्लो० १२

निस्सन्देह साहित्य और सङ्गीत विषय से जिस मनुष्य ने अपने चित्त को अत्याल्हादित न करके इस क्षणिक संसार में अपने बहुमूल्य काल को यों ही खोदिया है, उसको पशु से बढ़कर दूसरे शब्द से विभूषित नहीं कर सकते हैं। अस्तु।

आज हम इनमें से केवल साहित्य अर्थात् काव्य के विषय में लिखते हैं। सबसे प्रथम यही लिखना युक्तियुक्त और मनोरञ्जक होगा, कि 'कवि' और 'काव्य' इन शब्दों का क्या अर्थ है? 'कुङ्' धातु से 'कवि' शब्द बना है, 'कुङ्' धातु का अर्थ है शब्द। 'कवि' शब्द का अर्थ है शब्द करनेवाला। शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दो प्रकार का होता है। ध्वन्यात्मक शब्द वीणानाद आदि है, वर्णात्मक शब्द उच्चारण किया जाता है, सो अकारादि अक्षर है। ये (दोनों) भी रमणीय और अरमणीय दो प्रकार के होते हैं। यहां वर्णात्मक रमणीय शब्द का उच्चारण करने में 'कवि' शब्द की रूढ़ि है। और 'कवि' का तादृश कार्य वही 'काव्य' कहा जाता है।

अब यह द्रष्टव्य है कि सबसे प्रथम 'कवि' शब्द किसके लिये व्यवहृत हुआ है, और 'काव्य' की पहिले पहल किसके द्वारा और कबसे लोकमें प्रवृत्ति हुई है, एवं इस ( काव्य ) के प्रसिद्धाचार्य कौन हैं?। इन सब बातों का विचार करने से ज्ञात होता है कि सच्चिदानन्द परमेश्वर ही को प्रथम 'कवि' शब्द व्यवहृत हुआ है, और वेद ही काव्य का मूल है। क्योंकि—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"

इत्यादि श्रुतियों में सच्चिदानन्द परमेश्वर को 'कवि' कहा है, और जब परमेश्वर को कवि कहा गया तो उस (परमेश्वर) की वाणी, जो वेद है, सो काव्य सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त वेद में काव्य रचना भी देखी जाती है—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच॥
इन्द्रियाणि हयाजाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमम्पदम्॥

अर्थ–जो आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को राशि, इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उनका चारा समझता है सो इस विष्णु के परमपद रूप मार्ग के पार होता है। इस वेदान्त सूत्र में "रूपक" अलङ्कार है।

एतावता वेद के साथ ही इस काव्य की भी प्रवृत्ति परमेश्वर द्वारा सिद्ध होती है। एवं रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि पुराण भी काव्य हैं। वाल्मीकि रामायण का पाठ करने का जिन महाशयों को सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, उन्होंने तो उसके प्रति सर्ग की इति श्री में 'आदि-काव्ये' अवश्य पढ़ा होगा।

जैसे व्याकरण के पाणिनि, न्याय के गौतम, इसी प्रकार साहित्यशास्त्र के प्रसिद्धाचार्य भगवान् भरत मुनि हैं। ये भरतमुनि कब हुए सो ठीक समय निश्चित नहीं होसकता। परन्तु इतना निःशङ्क कह सकते हैं, कि वे महानुभाव भगवान् वेदव्यास महाराज से पूर्व हुए हैं। क्योंकि कृष्णद्वैपायन भगवान् वेदव्यास जी ने अग्निपुराण में, जहां कि अलङ्कार वर्णन किए हैं, लिखा है—

"भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीति उच्यते"

अर्थात् भरत ने रचना की इससे 'भारती' रीति कही जाती है। भगवान् वेदव्यास महाराजा युधिष्ठिर के समय में थे यह तो प्रसिद्ध ही है। और महाराजा युधिष्ठिर को हुए ४५०० वर्ष हुए हैं, क्योंकि राजतरङ्गिणी के रचयिता पुरातत्व-निपुण कवि कल्हण ने ६५३ वर्ष कलियुग के व्यतीत होने पर पाण्डवों का समय लिखा है।

आदि में इन्हीं महानुभाव (भरतमुनि) का बनाया हुआ "नाट्यशास्त्र" ग्रन्थ काव्य विषय पर है। उसके पीछे इन (भरतमुनि) के ही मत से महाराजा भोज, रुद्रट, आचार्य दण्डी और मम्मटाचार्य आदि बहुत से प्राचीन और अप्पय दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि तत्कालापेक्षा अर्वाचीन विद्वानों ने "सरस्वती कण्ठाभरण" "काव्यालङ्कार", "काव्यादर्श", "काव्यप्रकाश", 'चित्रमीमांसा", "रसगङ्गाधर" आदि अपूर्व एवं अकथनीय पाण्डित्यपूरित अनेक ग्रन्थ निर्माण किए हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों के सहारे से ही हम साहित्य विषय में अभिमान रख सकते हैं। किन्तु कराल काल के परिवर्तन से सम्प्रति इस (काव्य) की भी अवनत दशा देख चित्त को बड़ा ही खेद होता है। इसकी अवनति के कारण बहुत से देखे जाते हैं। प्रथम तो पूर्वकाल में भर्तृहरि, भोज, श्रीहर्ष जैसे गुण-ग्राहक, विद्योत्साही, उदारचेता, राजा महाराजाओं की इस ओर अधिकतर रुचि रहती थी। वे महानुभाव प्रगाढ़ प्रतिभासम्पन्न विद्वानों का मनोत्साह बढ़ाके अपूर्व ग्रन्थ सर्वदा निर्माण कराते थे। यही नहीं, किन्तु स्वयं भी व्युत्पत्तिपूर्ण ग्रन्थ-रत्न निर्माण करके साहित्य के भण्डार को परिपूर्ण करते थे। यही कारण है कि हमारे प्राचीन साहित्य का गौरव अद्यापि आसमुद्रान्त प्रकट हो रहा है। परन्तु शोक है कि इस समय के राजा लोगों में उस रुचि का अभाव सा हो गया है। इसी से विद्वान लोगों की लेखनी ने भी हतोत्साहित होके मौनावलम्बन कर लिया है। द्वितीय कुछ मतिमान् लोग विदेशीय भाषा के पूर्ण प्रेमी हो नहीं वरु अभिमानी भी हो गए हैं। इनके अतिरिक्त शेष जो मनुष्य हैं, उनमें अधिकतर तो जड़ बुद्धि हैं, उनको छोड़ के बहुत से ऐसे भी हैं जो अपनी बुद्धि का गौरव इसीमें समझ के इस (काव्य) को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, कि काव्य केवल मनोरञ्जक और शृङ्गाररस पूरित होने से इससे कुछ लाभ नहीं है। किन्तु हा! ऐसे सु (कु) बुद्धियों के विचार के अन्यथा यदि विचार कर देखा जाय तो यह (काव्य) कितनी प्रयोजनीय वस्तु है? और इससे क्या—

### लाभ

है सो अनुभवातिरिक्त सर्वमान्य ग्रन्थों के प्रमाणों से भी सिद्ध है। मम्मटाचार्य ने "काव्य प्रकाश" में लिखा है—

"काव्यं यशसेर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतर क्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मितयोपदेश युजे ॥"
प्रथमोल्लास श्लो० २

अर्थात् काव्य से यश, द्रव्यलाभ, व्यवहार ज्ञान, दुःख नाश, शीघ्र ही पूर्ण आनन्द और कान्ता के समान (रमणीय) उपदेश प्राप्त होते हैं। इनमें कैान वस्तु किसको प्राप्त हुई वा होती है सो नोचे स्पष्ट किया जाता है–

"यश"

महाकवि कालिदास, भवभूति, आदि की भांति अक्षय यश, जिनके काव्य की अद्वितीय प्रशंसा केवल एतद्देश में ही नहीं वरन् द्वीपान्तरीय विद्वानों द्वारा भी मुक्तकण्ठ से की गई, है।

द्रव्य लाभ

महाराजा श्रीहर्ष, भोज आदि से धावक और अनेक कवियों को अमित द्रव्य प्राप्त होना प्रसिद्ध ही है।

व्यवहार ज्ञान

महाकवि प्रणीत काव्यालोकन से प्रवीणता प्राप्त होने के कारण व्यवहार कुशलता भी स्वभाव सिद्ध है।

दुःख नाश

श्रीसूर्यादि से मयूरादि कवियों की भांति दुःख नाश होता है। मयूर नामक एक कवि के 'सूर्य शतक' ग्रन्थ रचना करने पर भगवान् भास्कर ने प्रसन्न होके उक्त कवि का कुष्ठ नष्ट किया था। यह एक प्रसिद्ध प्राचीन इतिहास है।

शीघ्र ही पूर्ण आनन्द

अर्थात् बहुत कष्टसाध्य यज्ञादिकों के फलरूप स्वर्गादि की प्राप्ति में कालान्तर और देहान्तर में आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु काव्य के तो श्रवणानन्तर ही रसास्वादन समुद्भूत अद्भुत अथाह आनन्द होता है। सोही आर्या सप्तशतीकार सहृदय गोवर्धनाचार्य ने कहा है—

आर्या

"सत्कविरसना सूर्पी निस्तुषतर शब्दशालि पाकेन।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा दासी ॥"
आर्या सप्तशती-श्लो० ४६

अर्थात् जो मनुष्य सुकवि की जिह्वा रूपी सूप से बिलकुल तुषरहित किए हुए शब्द रूप शालि (चावल) पाक से तृप्त है, सो अपनी प्रियतमा के अधर रस का भी आदर नहीं करता है, तब बिचारी सुधादासी क्या वस्तु है?

कान्ता के समान उपदेश

अर्थात् शब्द तीन प्रकार के होते हैं। प्रभुसम्मित, सुहृदसम्मित और कान्तासम्मित जिसमें प्रभुसम्मित शब्द, प्रधान वेद स्मृति आदि हैं जो बिधि रूप राजा की भांति आज्ञा करते हैं। सुहृदसम्मित शब्द पुराण इतिहासादि हैं जो सुहृद् की भांति समझाके सदुपदेश करते हैं। इन दोनों से विलक्षण 'कान्ता सम्मित शब्द' शब्दार्थ गुणी भाव से रस प्रगट करनेवाला, ललित रचना निपुण कवि कृत 'काव्य' है जो नीति शास्त्र बिमुख जनों को रमणीय अर्थ द्वारा कान्ता के समान सरसता पूर्वक अपने सम्मुख करके, "श्री रामादि की भांति चलना चाहिए, न कि रावणादि की भांति" यह सारगर्भित मधुर उपदेश करता है।

उपदेश में मधुरता का होना सोने में सुगन्ध की भांति बड़ा ही दुर्लभ है। सोही महाकवि भारवि ने कहा है—

"हितंमनोहारि च दुर्लभं वचः"—किरातार्जुनीय १ सर्ग श्लो० ४

किन्तु यह अलैाकिक गुण एक काव्य ही में है। सत्य कहा है—

स्वादु काव्यरस मिलि रुचै नीति बचन हू कान।
जिमि करि मीठी जीभ ह्वै कटु औषध हू पान ॥

निष्कर्ष यह है कि इस 'काव्य' से जो इच्छा की जाय सो सब प्राप्त हो सकता है। काव्यालङ्कार में रुद्रट ने कहा है—

"अर्थमनर्थोपशमं सममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचित रुचिर सुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥
अध्याय १ श्लो० ८

अर्थात् धन, अनर्थनाश, असाधारणसुख, अधिक क्या जो जो कवि वाञ्छा करता है, सो सब देवताओं की रुचिर स्तुति रचना से प्राप्त होता है।

इस उपर्युक्त लेख पर दृष्टि देने से हमारे अनुभवशील पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं, कि वस्तुतः काव्य एक सम्पूर्ण सुखसाधन रूप प्रधान वस्तु है। बस, अब यह बात सब लोग स्वीकार करेंगे कि एवंभूत प्रयोजनीय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना एवं उसकी उन्नति के लिये यत्न करना नितान्त आवश्यक है।

और इस (काव्य) को असार एवं केवल मनोरञ्जक समझना निरी भूल ही नहीं, किन्तु घोर मूर्खता भी है।

यहां तक काव्य का फल लिखा गया। अब इसके निर्माण का कारण लिखने के प्रथम यह लिखना ठीक होगा कि इस समय बहुत से महाशय काव्य निर्माण के साधन एवं महाकवियों के रहस्य से अभिज्ञ होने का कुछ उपाय किए बिनाही काव्य रचना करके उस (काव्य) को प्रसिद्ध कर रहे हैं। पर ऐसी कविता के प्रचार से साहित्य की कुछ उन्नति नहीं होसकी है, उलटी अधिक अवनति ही होती है। क्योंकि काव्य जितना प्रयोजनीय और मनोरञ्जक है उतनाही महान् कष्ट साध्य भी है, जैसा कि कविभूषण मंखक ने कहा है—

"अर्थोऽस्ति चेन्नपदशुद्धिरथास्ति सापि
नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्त्या।
साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेतद्व्यर्थं
विना रसमहो गहनं कवित्वम् ॥"
श्रीकण्ठचरित सर्ग २ श्लो० ३०

अर्थात् कविता में प्रथम अर्थ लालित्य होना ही दुष्कर है। यदि यह हुआ भी तो पदशुद्धि नहीं होती, और यह भी हुई तो रीति अर्थात् छन्द की शुद्धतापूर्वक गुणवती पद रचना नहीं होती; यदि यह भी हुई तो और घटना वर्णनीय विषय की रमणीयता कहां; यदि यह भी हुई तो नवीन वक्रोक्ति की मनोहरता नहीं देखी जाती, और ये सब होने पर भी रस के बिना तो काव्य हो व्यर्थ है; निदान कविता बड़ी गहन है।

एतावता काव्य प्रणेता कवि को काव्य रचना करने के लिये लेखनी को हस्तावलम्बन देने के पहिले, उसके निर्माण में क्या करना आवश्यक है उसको जानना चाहिए, और वह क्या है, सो काव्य प्रकाश में कहा है।

"शक्तिर्निपुणता लोक-काव्य-शास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे" ॥
उल्लास १ श्लोक० ३

(१) "शक्ति" अर्थात् काव्य का बीज भूत एक संस्कार विशेष, जिसका लक्षण रुद्रट ने यह कहा है—

"मनसि सदासु समाधिनि विस्फुरण मनेकधाभिधे यस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥
काव्यालङ्कार अध्याय १ श्लोक १५

अर्थात् जिस (शक्ति) से अविचल चित्त में नाना प्रकार के वाक्यार्थ का विस्फुरण, और कठिनता रहित पदों का भान हो, निदान जिससे नाना विधि के शब्दार्थ हृदयंगम हों, उसको 'शक्ति' कहते हैं।

(२) "निपुणता" अर्थात् लोकवृत्त (स्थावर जङ्गम आदि की स्वरूपादि स्थिति), शास्त्र जो छन्द, व्याकरण, कोश, अर्थशास्त्र, नृत्यगीतादि कला, चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष), गज, अश्व (इत्यादि की परीक्षा के ग्रन्थ) खड्ग आदि के लक्षणों के ग्रन्थ और काव्य जो महाकवि प्रणीत काव्य इतिहासादि, इनको ज्ञान जनित जो व्युत्पत्ति प्राप्त हो।

(३) "अभ्यास", अर्थात् काव्य रचने और विचारने में कुशल ऐसे सद्गुरु के उपदेश द्वारा काव्य निर्माण और व्याखान में बार बार प्रवृत्ति,

ये तीनों १ 'शक्ति', २ 'निपुणता', ३ 'अभ्यास', परस्पर सापेक्ष, न कि एक वा दो किन्तु तीनों मिलके इस काव्य रचना के हेतु हैं। अर्थात् ये तीनों जुदे जुदे कारण नहीं हो सकते हैं। किन्तु तीनों मिलके एक कारण है। सारांश यह है कि इन तीनों (शक्ति, निपुणता और अभ्यास) को समानता दी जाने से तीनों ही का होना परमावश्यक है। ऊपर हमने सुप्रसिद्ध 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ का अखण्डनीय मत प्रदर्शित किया है और यही हमारे प्राचीन काल के सर्वमान्य प्रायः सब साहित्य ग्रन्थों का मत है। अब हम ऊपर के मत के विरुद्ध एक महाराष्ट्रीय विद्वान (जो अभी हो गए हैं) का मत प्रकाशित करते हैं। आगे उसको आलोचना की जायगी।

दक्षिण में श्रीयुत विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर महाशय महाराष्ट्रीय भाषा के एक बहुत अच्छे विद्वान हो गए हैं। ये महाशय संस्कृत काव्य के बड़े मार्मिक रसिक थे और इन्होंने संस्कृत काव्य में बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया था। यह बात संस्कृत काव्य पर इनके लिखे हुए निबन्धों से भली प्रकार ज्ञात होती है। इन्हीं महाशय ने एक "विद्वत्त्व और काव्यत्व" शीर्षक निबन्ध लिखा है। उस निबन्ध में उन्होंने यह सिद्ध किया है कि काव्यत्व को विद्वत्व को कुछ भी अपेक्षा नहीं है, केवल 'प्रतिभा' मात्रही काव्य का एक मात्र कारण है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"इस लेख में हमारा प्रधान अभिप्राय यही है कि कवित्व को विद्वता की अणुमात्र भी आवश्यकता नहीं है। भिन्न भिन्न शास्त्रों में पूर्ण रूप से गति प्राप्त कर उसे कविता का सहायक मानना विडम्बना मात्र है, क्योंकि उससे कोई लाभ तो होगा ही नहीं, उलटी जब होगी तब हानि ही होगी।"*

हमको ऐसे काव्य रस-मार्मिक परमानुभवी विद्वान के मुख-विनिसृत ऐसा कथन देखके बड़ा आश्चर्य होता है। हां, यह बात निस्सन्देह सर्व सम्मत है कि काव्य निर्माण के कारण में 'प्रतिभा' (जिसका पर्याय 'शक्ति' है) को प्रधानता है, अर्थात् यह मुख्य मानी गई है। इस (शक्ति) को दो भेदों में विभक्त करते हुए रुद्रट कहते हैं—

"प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सहजातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥"

काव्यालङ्कार अ० १ श्लो० १६

अर्थात् शक्ति, जिसको अन्य ग्रन्थकारों ने 'प्रतिभा' नाम से कथन किया है, वह दो प्रकार को होती है—'सहजा' और 'उत्पाद्या'। उन दोनों में सहजा अर्थात् ईश्वर प्रदत्त शक्ति (जिसके विषय में उक्त महाशय का कथन है) श्रेष्ठ है। और उत्पाद्या शक्ति व्युत्पत्ति अर्थात् निपुणता जन्य कष्टसाध्य है।

यह तो हम प्रथम ही कह चुके हैं कि 'प्रतिभा' को प्रधानता है, पर यह नहीं कि वह एक शक्ति मात्र ही काव्य निर्माण का पूर्णतया कारण हो, और व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि के लिये यत्न निरर्थक वा उलटा हानिकारक हो, जैसा कि उक्त महाशय का सिद्धान्त है। हमतो साहस पूर्वक ऐसा कह सकते हैं कि जितनी आवश्यकता 'प्रतिभा' की है उतनी ही निपुणता और अभ्यास की भी है। इन तीनों को समानता के प्रमाण में हम ऊपर काव्य प्रकाशगत कारिका लिख चुके हैं। काव्य-प्रकाशकार उस कारिका की व्याख्या में यह स्पष्ट करा दिया है कि ये तीनों मिलके एक कारण है, न कि जुदे जुदे तीन कारण। इसके अतिरिक्त अब हम निम्न लिखित प्रमाण से यह दिखाते हैं, कि केवल 'प्रतिभा' होने से काव्य में चारुता नहीं आ सकती है, किन्तु व्युत्पत्ति अर्थात् विद्वत्ता भी (जिससे युक्तायुक्त विज्ञान प्राप्त होता है) काव्य रचना में नितान्त सहायक है। देखिए

* यह लेख श्री विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर कृत महाराष्ट्रीभाषा की 'निबन्ध माला' के पं० गङ्गाप्रसाद जी अग्निहोत्री कृत "निबन्धमालादर्श" नामक अनुवाद से उद्धृत किया गया है। और आगे भी इसीसे उद्धृत होगा, क्योंकि महाराष्ट्री भाषा के पढ़ने में हिन्दी के पाठकों को कठिनता होती थी।

शक्ति का स्वरूप कथनानन्तर आचार्य दण्डी ने व्युत्पत्ति की कितनी आवश्यकता प्रतिपादित की है—

"तत्र शक्त्या शब्दार्थौ मनसि संनिधीयते ।
तयोः सारासारग्रहणनिरासौव्युत्पत्त्या क्रियते ।"

अर्थात् शक्ति से शब्द और अर्थ मन में संनिधान किए जाते हैं, और उनमें से सार का ग्रहण एवं असार का त्याग व्युत्पत्ति द्वारा किया जाता है। ऊपर के लेख को पढ़के हमारे सुविज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं, कि व्युत्पत्ति अर्थात् विद्वत्ता भी काव्य में नितान्त सहायक होने से उसकी भी सर्वथा आवश्यकता है। उक्त महाशय ने अपने मत के प्रमाण में महाकवि जयदेव विरचित "प्रसन्न राघव" नाटक का निम्न लिखित अंश उद्धृत किया है—

"नोटः — नन्वयं ( कविः ) प्रमाण-प्रवीणोपि श्रूयते । तदिह चन्द्रिकाचण्डातपयोरिव कवितातार्किकयोरेकाधिकरणतामालोक्य बिस्मितोऽस्मि ।

सूत्रधारः—क इह विस्मयः
येषां कोमलकाव्य कौशलकला लीलावती भारती ।
तेषां कर्कश-तर्कवक्र-वचनोद्गारेऽपि किं हीयते ॥
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता
स्तैः किं मत्तकरीन्द्र कुम्भ शिखरे नारोपणीयाः शराः ॥"

इसका भाषानुवाद—

"नट—सुनते हैं यह कवि तर्कशास्त्रमें भी बड़ा प्रवीण है। इस कवि में चन्द्रिका और प्रचण्ड आतप के समान कविता और तर्कना शक्ति को एकत्रित देख मैं बड़ा बिस्मित हो रहा हूं ॥

"सूत्रधार—इसमें विस्मय की बात ही क्या है? जिन लोगों की वाणी से कोमल काव्य रचना प्रसूत होती है, उसीसे तर्क शास्त्र के तीक्ष्ण बचन भी प्रसूत हों तो इसमें हानि ही क्या है? जिन लोगों ने आनन्द पूर्वक कान्ताकुचमण्डल पर नखक्षत किए हैं। उन्हें मदमत्त हाथी के गण्डस्थल पर बाणघात करना क्या कोई कठिन कार्य है?"

इतना उद्धृत करके फिर शास्त्री जी यों लिखते हैं—

"इसी प्रकार अनुमान सात आठ सौ वर्ष पूर्व ही जयदेव को भी कविता और तार्किकता का विरोध जान पड़ता था।"

इसपर हमको केवल यही वक्तव्य है कि उक्त महाशय अपने मत के पक्ष में इस प्रमाण को देके कितने कृतकार्य हुए हैं, उसके विचार का भार हम अपने विचारशील पाठकों ही पर छोड़ते हैं, क्योंकि हमको तो ऐसा प्रतीत होता है, कि जब उनको अपने मत के पक्ष में प्रमाणों को ढूंढते ढूंढते कहीं कुछ उपलब्ध नहीं हुआ, तब विवश होके उन्होंने उक्त अंश उद्धृत किया है। नहीं तो भला कहां तो वे सामान्य विद्वत्ता के विरुद्ध अपना मत दृढ़ कर रहे थे, और कहां फिर विद्वत्ता के विशेष अंश के बल तार्किकता के विषय में प्रमाण दे बैठे; सोभी अधूरा; क्योंकि उक्त नाटक के लेख में तो प्रत्युतः कविता और तार्किकता के एकाधिकरणता की प्रशंसा व्यक्त होती है। क्या विद्वत्ता कथन मात्र से केवल तार्किकता ग्रहण हो सकती है? तब बिचारे और शास्त्रों के विचारजन्य विज्ञान को ( विद्वत्ता को छोड़के ) किस वस्तु में समावेश किया जायगा? हां, यदि उनका अभिप्राय केवल तार्किकता ही से था, तो फिर उनको विशेषता से लिखना योग्य था। पर सोभी नहीं है, उनके उक्त निबन्ध से उनका विरोध विद्वत्ता मात्र से ही प्रत्यक्ष देखा जाता है। यहां तक उक्त सब बातें अन्य ग्रन्थों के मत से वा हमारे अनुभव से लिखी गई हैं। अब हम उक्त महाशय के उक्त निबन्ध के एक अंश से यह सिद्ध करते हैं कि उक्त महाशय स्वयं उपर्युक्त अपना नवीन मत निशङ्क स्थिर करने में समर्थ नहीं हुए हैं। कई स्थानों पर उन्होंने कहा है कि इस लेख को पढ़के लोग आश्चर्य चकित होंगे, नानाविध आक्षेप करेंगे, दुःखित होंगे, इत्यादि। इसके सिवाय एक स्थान पर आप स्वयं लिखते हैं—